उठो! जागो!! अपने अन्दर निहित
देवत्व को व्यक्त करो।
वर्ष ३१ अंक १
विवेक
हिन्दी त्रैमासिक
ज्योति
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर (म.प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च
* १९९३ *

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १५/-   वर्ष ३१   एक प्रति ४/५०
अंक १

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २५२६९

अनुक्रमणिका

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण- विवेकानन्द- भावधारा से अनुप्रणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३१] जनवरी-फरवरी-मार्च [अंक १

★ १९९३ ★

मोहमयी मदिरा

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

सूर्य के उदय एवं अस्त के साथ ही साथ आयु का भी क्षय होता रहता है। जीवन के विविध प्रकार के कर्तव्य-कर्मों की व्यस्तता के बीच समय के बीतने का बोध ही नहीं रहता। आँखों के सामने ही जन्म, बुढ़ापा, संकट तथा मृत्यु के कष्टों को देखकर भी मन में भय का संचार नहीं होता। सचमुच ही विस्मृति रूपी मोह-मदिरा को पीकर यह संसार मतवाला हो रहा है।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्'-४३

अग्नि-मंत्र

(खेतड़ी के महाराजा को लिखित)

अमेरिका,
१८९४

प्रिय महाराज,

...संस्कृत के किसी कवि ने कहा है, **न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते**—अर्थात् 'ईंट-पत्थर की इमारत से घर नहीं बनता, गृहिणी के होने से बनता है।' यह कितना सत्य है! घर की छत, जो गर्मी, जाड़े तथा वर्षा से तुम्हारी रक्षा करती है, उसके गुण-दोषों का विचार उन खम्भों से, जिनके सहारे कि वह खड़ी हुई है, नहीं हो सकता, चाहे वे कितने ही सुन्दर, शिल्पमय 'कोरिन्थियन्' खम्भे क्यों न हों। उसका निर्णय होगा नारी से, जो वास्तविक मर्म-स्तम्भ है, सबका केन्द्र है, घर का वास्तविक अवलम्बन है। इस आदर्श के अनुसार विचार करने पर अमेरिका का पारिवारिक जीवन जगत् के अन्य किसी स्थान के पारिवारिक जीवन से न्यून न होगा।

अमेरिका के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में मुझे अनेक निरर्थक कहानियाँ सुनने को मिलीं। यथा, वहाँ स्वाधीनता स्वेच्छाचार तक पहुँच जाती है, वहाँ की धर्मवर्जित स्त्रियाँ स्वाधीनता के अपने उन्माद नृत्य में अपने पारिवारिक जीवन की सुख-शान्ति को पददलित कर चूर्ण-विचूर्ण कर देती हैं एवं इसी तरह की और भी सारी बकवास। किन्तु अब एक वर्ष के बाद अमेरिकी परिवार तथा अमेरिका की स्त्रियों के सम्बन्ध में मुझे जो अनुभव

प्राप्त हुआ है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि उक्त प्रकार की धारणाएँ कितनी भ्रान्त तथा निर्मूल हैं। अमेरिकी महिलाओ! सौ जन्म में भी मैं तुमसे उऋण न हो सकूँगा। मेरे पास तुम्हारे प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने को शब्द नहीं हैं। 'प्राच्य अतिशयोक्ति' ही प्राच्यवासी मानवों की कृतज्ञता की गंभीरता को प्रकट करने की एकमात्र भाषा है : "यदि समुद्र मसि-पात्र, हिमालय लेखनी, पृथ्वी कागज तथा महाकाल स्वयं लेखक हों, तो भी तुम्हारे प्रति मेरी कृतज्ञता प्रकट करने में ये सब समर्थ न हो सकेंगे।"

गत वर्ष ग्रीष्म में दूर देश से नाम-यश-धन-विद्याविहीन, बन्धुरहित असहाय दशा में प्रायः खाली हाथ जब मैं एक परिव्राजक प्रचारक के रूप में इस देश में आया, उस समय अमेरिका की महिलाओं ने ही मेरी सहायता की, मेरे ठहरने तथा भोजन की व्यवस्था की, मुझे अपने घर ले गयीं तथा मेरे साथ अपने पुत्र तथा सहोदर जैसा बर्ताव किया। जब उनके पुरोहितों ने इस 'भयानक विधर्मी' को त्याग देने के लिए बाध्य करना चाहा, जब उनके सबसे अन्तरंग बन्धु 'इस सन्दिग्ध भयानक चरित्र के अपरिचित विदेशी व्यक्ति' का संग छोड़ने के लिए उपदेश देने लगे, तब भी वे मेरी मित्र बनी रहीं। किन्तु ये महिलाएँ ही मानव-चरित्र तथा मानव-प्रकृति की सच्ची निर्णायिका, हैं—क्योंकि स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है।

कितने ही सुन्दर पारिवारिक जीवन मैंने यहाँ देखे हैं, कितनी ही ऐसी माताओं को देखा है, जिनके निर्मल चरित्र तथा निःस्वार्थ सन्तान-स्नेह का वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता। कितनी दुहिताएँ तथा पवित्र कन्याएँ—देवी

डायना के मन्दिर पर की तुषारकणिकाओं के समान पवित्र! फिर उनकी वह संस्कृति, शिक्षा तथा सर्वोच्च कोटि की आध्यात्मिकता! तो क्या अमेरिका की सभी नारियाँ देवीस्वरूपा हैं? यह बात नहीं, भले-बुरे सभी स्थानों में होते हैं। किन्तु दुर्बल व्यक्तियों द्वारा, जिन्हें हम दुष्टों के नाम से अभिहीत करते हैं, किसी जाति के बारे में किसी प्रकार की धारणा नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि वे तो व्यर्थ के कूड़े-करकट की तरह पीछे रह जाते है; जो लोग सत्, उदार तथा पवित्र होते हैं, उनके द्वारा ही जातीय जीवन का निर्मल तथा प्रबल प्रवाह सूचित होता है।

किसी सेव के पेड़ तथा उसके फलों के गुण-दोषों का विचार करने के लिए क्या तुम उसके कच्चे, अविकसित तथा कीटग्रस्त फलों का सहारा लोगे, जो धरती पर जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े रहते हैं और जो कभी संख्या में भी अधिक ही होते हैं? यदि कोई सुपक्व तथा पुष्ट फल मिले, तो उस एक से ही उस सेव के वृक्ष की शक्ति, सम्भावना तथा उद्देश्य का अनुमान किया जाता है, उन असंख्य अपक्व फलों से नहीं।

अमेरिका की आधुनिक महिलाओं के विशाल और उदार मन की मैं प्रशंसा करता हूँ। मैंने इस देश में अनेक उदार पुरुषों को भी देखा, उनमें से कोई-कोई तो अत्यन्त संकीर्ण मनोवृत्तिवाले सम्प्रदायों के अन्तर्गत हैं। भेद इतना ही है कि पुरुषों के विषय में यह आशंका बनी रहती है कि उदार बनने के लिए वे अपना धर्म, अपनी आध्यात्मिक विशिष्टता खो सकते हैं, परन्तु महिलाएँ जहाँ कहीं भी भलाई देखती हैं, उसे सहानुभूतिपूर्वक, उदारता से अपने धर्म से तनिक भी विचलित हुए बिना ग्रहण करती हैं। सहज रूप

से ही वे यह अनुभव करती हैं कि यह एक भाव का विषय है, अभाव का नहीं, संयोजन का विषय है, वियोग का नहीं। दिनों-दिन वे इस विषय में सचेतन होती जा रही हैं कि हर वस्तु का स्वीकारात्मक व इतिवाचक भाग ही संचित होता रहेगा तथा स्वीकारात्मक व इतिवाचक इन भावों के, और इसलिए प्रकृति की आध्यात्मिक शक्तियों के, संचय करने का कार्य ही संसार के नेतिवाचक व ध्वंसात्मक तत्वों का नाश करता है।

शिकागो का वह विश्व-मेला कितना अद्‌भुत काम था! और वह अद्‌भुत धर्म-महासभा भी, जिसमें पृथ्वी के सभी देशों के लोगों ने एकत्र होकर अपने-अपने विचार व्यक्त किये! डॉ. बैरोज़ तथा श्री बॉनी के अनुग्रह से मुझे भी अपने विचारों को सबसे समक्ष रखने का अवसर प्राप्त हुआ था। श्री बॉनी कितने अद्‌भुत व्यक्ति हैं! जरा उनकी कल्पनाशक्ति के बारे में सोचो, जिन्होंने इतने विशाल आयोजन की कल्पना की और उसे सफलतापूर्वक कार्य में परिणत किया! और उल्लेखनीय बात यह है कि वे कोई पादरी नहीं थे; एक साधारण वकील होकर भी उन्होंने समस्त धर्म-सम्प्रदायों के परिचालकों का नेतृत्व ग्रहण किया था। उनका स्वभाव अत्यन्त मधुर है और वे एक विद्वान तथा धीर व्यक्ति हैं—उनकी हृदयस्थ भावनाओं का प्रकाश उनके उज्जवल नेत्रों से ही होता था...!

तुम्हारा,
विवेकानन्द

गीता का सन्देश

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है—स.)

कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि में युद्धोद्यत सेनाओं के समक्ष गीता का उद्‌गीरण हुआ। अर्जुन जब मोह में पड़कर अपना कर्तव्य भूल जाते हैं और अज्ञानवश एक ऐसी राह में जाना चाहते हैं, जो उनकी अपनी नहीं है, तब श्रीकृष्ण को गीता के रूप में सन्देश देने की आवश्यकता पड़ी। अतः गीता वह प्रेरणा है, जो विभ्रमित मानव को रास्ता दिखाती है, जो उसके यथार्थ कर्मपथ का स्मरण करा देती है। वह हमें ज्ञान के आधार पर संसार में खड़े रहने का मार्ग बताती है। जब हम जीवन की भूल-भुलैया में भटक जाते हैं, उस समय वह मार्ग प्रदर्शक बनकर आती है। जब हम आलस्य से अकर्मण्य बन जाते है, अथवा किसी प्रकार प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने कर्त्तव्य-कर्मों को छोड़कर दूर भाग जाना चाहते हैं, तब वह कर्म की प्रेरणा लेकर हमारे सामने उपस्थित होती है। इसीलिए गीता को योगशास्त्र भी कहा गया है। योगशास्त्र का तात्पर्य उस आध्यात्मिकता से है जो केवलमात्र सैद्धान्तिक न हो, प्रत्युत जो जीवन में गतिशील हो सके, व्यावहारिक बन सके। कई लोगों का मत है कि जो घरबार छोड़कर संन्यासी बनना चाहते हैं, उन्हीं के लिए गीता पठनीय है, गृहस्थों के लिए नहीं। पता नहीं यह तर्क

सर्वप्रथम किसने उपस्थित किया था। जिसने भी किया हो, उसने गीता का अध्ययन नहीं किया होगा। यदि गीता का उद्देश्य वही होता, तब अर्जुन को कृष्ण युद्ध करने के लिए क्यों प्रेरित करते? अर्जुन के मन में वैराग्य की भावना आई-सी मालूम पड़ती है। वे हाथ के कार्य को छोड़कर कहीं दूर जंगल में चले जाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में तो कृष्ण उन्हें उत्साह प्रदान करते, उनका हौसला बढ़ाते। पर ऐसा तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता, उलटे उलाहना के स्वर में वे अर्जुन से कहते हैं—ऐसे विषम समय में यह कायरता क्यों? वे अर्जुन को तरह-तरह से युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं। उनकी जो मुख्य सीख है वह कुछ इस प्रकार है—"मनुष्य को अपने कर्त्तव्य कर्म से नहीं डिगना चहिए। कुछ परिस्थितियों के कारण यदि कोई व्यक्ति सहसा अपनी मनोवृत्ति को दूसरी दिशा में मोड़ने लगता हो तो यह समझना चाहिए कि वह अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म नहीं कर रहा है। इस प्रकार का कर्म ही परधर्म कहलाता है। मनुष्य यदि निष्ठा के साथ अपने कर्म में लगा रहे तो धीरे-धीरे उसे आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती जाती है। कोई भी कर्म अपने आप में ऊँचा या नीचा नहीं है, मनुष्य की दृष्टि ही कर्म को निम्न या उच्च बना देती है। हो सकता है, कोई कर्म बाहरी रूप से श्रेष्ठ दिखे, पर यदि उस कर्म का करनेवाला निम्न और विपरीत भावों से भरा हो, तो वह कर्म उस व्यक्ति के संदर्भ में कभी भी उच्च नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार हो सकता है कि कोई कर्म ऊपर से घृणास्पद मालूम पड़ता हो, पर यदि कर्ता का मनोभाव उच्च कोटि का है, तो वह कर्म श्रेष्ठ बन जाता है, भगवान

की पूजा का अंग बन जाता है। गीता की भाषा में कहें तो वह एक यज्ञ बन जाता है। गीता की शिक्षा का निचोड़ यह है कि प्रत्येक कर्म को यज्ञस्वरूप बना लो। जिस प्रकार यज्ञ के लिए वेदी की आवश्यकता होती है, हवन-कुण्ड का प्रयोजन होता है, उसमें आहुतियाँ देनी पड़ती हैं, उस प्रकार का कुछ भी इस कर्म-यज्ञ में नहीं करना पड़ता। इसमें तो कर्त्ता का शरीर ही मानो वेदी है, ईश्वर का स्मरण ही हवन कुण्ड है, और समर्पणभाव ही आहुतियाँ हैं। जब हम ईश्वर को समर्पित करते हुए जीवन के कर्मों को करते हैं तो वे कर्म हमें बाँध नहीं पाते। गीता में कहा गया है—

ब्रह्मण्यधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥५/१०

अर्थात् तब हमारी स्थिति जल में रहनेवाले कमल के पत्ते के समान हो जाती है। कमल का पत्ता जल में रहता तो है, पर उससे लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार हम संसार में रहते तो हैं, पर उससे लिप्त नहीं हो पाते। यह गीता की सबसे बड़ी सीख है। यही गीता का कर्मयोग है।

माँ काली

रामइकबालसिंह 'राकेश'
गरुड़नीड़, भदई, मुजफ्फरपुर

सत्तावान तुम्हारी सत्ता से ही त्रिभुवन,
देशकाल के चक्षुताल का महाआयतन।
होता प्रकट प्रलय में तुमसे ही वैश्वानर,
ज्वालामुखियों में उल्का-ज्वाला भड़काकर।

सर्वकामप्रद विश्व तुम्हारा अन्तर-दर्पण,
कानन चित्राभरण, हिरण्मय रविशशिलोचन।
तरुणारुण वर्णानन, प्राण प्रभञ्जन भीषण,
घेर सौरमण्डल को करते महाघोर स्वन।

उड़ते गरुड़ समान वेग से ताम्रनील घन,
तड़ितपताका फहराते पंखों में शोभन।
वायुभार के तलप्रदेश को परिनादित कर,
उड़ती कम्पल लहर-लहर पर उमड़-उमड़कर।

छा जाती काजल की आँधी लपटों में जल,
दीर्घवृत्त में चलते तुमसे ही शनि-मंगल।
गाते अन्तर की वीणा में मीड़-तान भर,
गिरि के कण्ठदेश में तूर्यनिनादी निर्झर।

अग्निबाण से पुच्छलतारे मर्म दीर्णकार,
आग उगलते गगन-गवाक्ष-विवर के भीतर।
दहनशील उद्‌गार तुम्हारा महाभयंकर,
धधकाता लावा का झरना सर्गप्रलयकर।

महानाद से लहराने लगता भूमण्डल,
जैसे वाताहत हिल्लोलित सागर का तल।

ज्योतिष्मान तुम्हारी महिमा से जड़-चेतन,
तुमसे भिन्न न कोई अन्य परम आलम्बन।

होती है सम्पन्न भूमिका महाकाल की,
दग्ध दृष्टि से वृष्टि लाल अंगारज्वाल की।
महारास चल रहा तुम्हारा निरन्तर,
भिन्न-अभिन्न रूप में भुवनकोश के भीतर।

जो दोगे, वही पाओगे

यदि एक सरल रेखा अनन्त दूरी तक बढ़ायी जाए, तो अन्त में वह एक वृत्त का रूप धारण कर लेगी।...विद्युत शक्ति के बारे में आधुनिक मत यह है कि वह डायनेमो से निकलने के बाद घूमकर फिर से उसी यंत्र में लौट आती है। प्रेम और घृणा के बारे में भी यही नियम लागू होता है। अतएव किसी से घृणा करना उचित नहीं, क्योंकि यह शक्ति–यह घृणा, जो तुम्हारे अन्दर से निकलेगी, कालान्तर में घूमकर फिर तुम्हारे पास ही वापस आ जाएगी। यदि तुम लोगों से प्रेम करो, तो वह प्रेम घूम-फिरकर तुम्हारे पास ही लौट आएगा। कोई भी इसकी गति को रोक नहीं सकता!

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

इकतालीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, कांकुडगाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्सग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय. कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय. रायपुर में अध्यापक हैं।—सं.)

इन्द्रियों की दिशा बदलना

ऐसे कौन-कौन लोग हैं, जिन्हें ज्ञान नहीं होता, इस प्रसंग में श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि विद्या, पाण्डित्य और धन का अहंकार रहने पर ज्ञान नहीं होता। अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस ज्ञान के प्रतिबन्धक अहंकार को छोड़ना होगा। अहंकार विभिन्न प्रकार के गुणों से होता है। इसे समझाने के लिए वे कहते हैं, "तमोगुण का स्वभाव अहंकार है। अहंकार अज्ञान से होता है।" रजोगुण में और भी दो लक्षण हैं, काम और क्रोध। गीता में कहा गया है कि **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः** ठाकुर तमः और रजः को पृथक न कर और भी व्यापक अर्थ में कहते हैं कि ये दोनों ही मनुष्य को बद्ध करते हैं और सत्वगुण मुक्त करता है। "क्रोध में उचित और अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। हनुमान ने लंका जला दी, परन्तु यह ज्ञान नहीं था कि इसमे

सीताजी की कुटिया भी जल जाएगी।" क्रोध में हमारी बुद्धि आदि लुप्त हो जाती है, इसे हम स्पष्ट रूप से समझते हैं। हम कहते हैं, "उस समय मैं गुस्से में था, बोध नहीं रहा।" भगवान गीता में कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोह: सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

गीता २/६२-६३

—"विषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढभाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृतिभ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश हो जाने से व्यक्ति का विनाश हो जाता है।"

यह सब एक-एक कर होता है। पहले विषय के साथ सम्बन्ध होता है। विषयों में रहकर उनका चिन्तन करते-करते क्रमश: वे अच्छे लगने लगते हैं, इससे मन में कामना जागती है। इसके बाद उस कामना या इच्छित वस्तु की प्राप्ति में जो कुछ भी बाधक होता है, उस पर क्रोध आता है अत: काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह या हित-अहित ज्ञानशून्यता आती है, मोह से स्मृतिभ्रंश - आत्मज्ञान या अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में जो स्मृति है, वह नष्ट हो जाती है। स्मृतिभ्रश होने पर, लक्ष्यभ्राष्ट होने पर मनुष्य की बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि का अर्थ है 'निश्चय करने की क्षमता' मैं इस पथ से चलूँगा, यह

मेरा लक्ष्य है। इसी निश्चयात्मिका बुद्धि का नाश हो जाता है। और बुद्धि के नष्ट हो जाने पर मनुष्य के पास रह क्या गया? मनुष्य ही नष्ट हो गया।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि ठाकुर ने काम और क्रोध दोनों को अलग करके नहीं कहा। एक ओर जिसे हम काम या वासना के रूप में देखते हैं, ठीक वही वस्तु एक अन्य रूप में क्रोध में रूपान्तरित हो जाता है। अब यह प्रश्न हमारे मन में स्वाभाविक रूप से उठता है कि काम-क्रोध आदि जो रिपु मनुष्य में हैं, उन पर विजय पाने का उपाय क्या है? ठाकुर कहते हैं—"पथरियाघाटा के गिरीन्द्र घोष ने कहा था, काम क्रोध आदि रिपु तो जाने के नहीं, अतः इनकी दिशा मोड़ दो।" काम अर्थात् पाने की इच्छा, ईश्वर के प्रति हो। क्रोध-ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में बाधाओं के प्रति हो। लोभ-भगवान के लिए हो। मोह-उनके रूप तथा गुण से हो। इसके बाद मद, मात्सर्य आदि इन्हीं से उत्पन्न होते हैं। भगवान को लेकर उन्मत्त हो जाओ, उन्हीं को लेकर अभिमान, अहंकार करो। इस तरह से इन रिपुओं की दिशा भगवान की ओर मोड़ देने के फल से इनकी अनिष्ट करने की क्षमता दूर हो जाती है। विशेषकर संसार में किसी व्यक्ति के प्रति हमारे मन में जो आकर्षण है, उसे भगवान की ओर मोड़ पाने से वह हमें भगवान के निकट ले जाता है। वैसे यह काम उतना सहज नहीं है, जितना प्रतीत होता है। लेकिन अभ्यास करने की यह एक प्रणाली है। ठाकुर ने अनेक प्रसंगों में बार बार इस प्रणाली के ऊपर जोर दिया है, क्योंकि सामान्य जन के लिए यह प्रणाली अत्यन्त उपयोगी है।

प्रायः ही हम किसी व्यक्ति या स्नेहपात्र के प्रति आकर्षण अनुभव करते हैं, जिसका चरम दृष्टान्त है राजा भरत का हिरण का चिन्तन करने का प्रसंग। हम भी किसी व्यक्ति विशेष के प्रति आकृष्ट हो अपना पूरा मन उसी में केन्द्रित करके बद्ध हो जाते हैं। इसका प्रतिकार क्या है? ठाकुर का कहना है कि उसके भीतर ईश्वर को देखने की चेष्टा करो। यथा एक विधवा स्त्री भक्त से ठाकुर ने जब पूछा कि उनका जप-ध्यान कैसा चल रहा है, तो वे बोलीं—"ध्यान करने के लिए बैठने पर इसका चेहरा या उसकी बातें याद आती हैं।" इस प्रकार के अस्पष्ट उत्तर से ठाकुर सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने पूछा, "किसकी बातें याद आती हैं?" महिला ने बताया कि मैंने अपने एक भतीजे का पालन-पोषण किया है, उसी की बात याद आती है, उसी के प्रति आकर्षण है। ठाकुर बोले-उसे ही गोपाल समझना। तुमने अब तक उसे मनुष्य समझकर प्रेम किया है पर अब उसे गोपाल समझकर उससे प्रेम करना। उन्होंने यह नहीं कहा कि उसकी ओर से मन को हटाकर भगवान की ओर ले जाने की चेष्टा करो, वैराग्य का अवलम्बन करो, साधना करो। ठाकुर के इस उपदेश का अनुसरण करने पर उक्त भक्त-महिला को थोड़े ही दिनों में इतनी गहरी आध्यात्मिक अनुभूति हुई कि उसे भावसमाधि तक हो जाती थी। यही प्रणाली है। भक्त को यदि यह कहा जाता कि अपने भतीजे का चिन्तन मत करना तो यह उसके लिए सम्भव न होता। हमारे मन का जिधर रुझान है, अचानक ही लगाम खींचकर उधर से उसको रोकने पर वह हमें परास्त करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देगा। वैसे ही जैसे कि एक वेगवती नदी की

धारा को बाँध के द्वारा रोकने पर वह पूरी शक्ति लगाकर बाँध को तोड़ देने की चेष्टा करती है। किन्तु यदि नहर काटकर प्रवाह की दिशा को धीरे-धीरे परिवर्तित किया जाए तो वह धारा जिस दिशा में मुड़ेगी, नदी भी उसी दिशा में चलने लगेगी। ठीक इसी प्रकार किसी सांसारिक वस्तु या व्यक्ति पर मन का आकर्षण रहे तो उस वस्तु या व्यक्ति के भीतर भगवान के अस्तित्व की भावना करते करते वस्तुधर्म के अनुसार मन शुद्ध हो जाएगा। तब आकर्षण उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति न होकर भगवान के प्रति होगा। इसी को कौशल कहते हैं।

गीता में जैसे कहा गया है—जो कर्म बन्धन का कारण है, वही कर्म कौशलपूर्वक करने पर हमें बन्धन से मुक्त करता है। इसी प्रकार जो प्रेम हमें बाँधता है, कौशलपूर्वक प्रयोग करने पर वही हमें मुक्त करता है। इसी कौशल को ठाकुर यहाँ सिखा रहे हैं। इसमें अपने मन के साथ कोई प्रबल युद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। सम्भव है उस युद्ध में निरर्थक ही शक्ति का क्षय होता और मन को जीतना कदापि न हो पाता। किन्तु इस कौशल से अभ्यास करते करते, बालक में गोपाल की भावना करते करते अनायास ही उस बालक के प्रति जो मनुष्य-भाव है, वह विस्मृत होकर उसमें गोपाल की उपस्थिति दिखाई देने लगी।

मनुष्य का मन जब शुद्ध होता है तब वह काष्ट-पाषाण के समान जड नहीं हो जाता अथवा उसके मन की स्वाभाविक वृत्तियाँ मर नहीं जातीं। तब वे सब भगवदोन्मुखी हो जाती हैं। जो वस्तु हमें आकर्षित करती हैं,

ठाकुर उसमें भगवान की भावना करने को, ज्ञानपूर्वक इस कौशल का सहारा लेने को कहते हैं। शास्त्र कहते हैं कि जड़ वस्तु मन को आकर्षित नहीं करता। उसके भीतर जो चेतना है, भगवत्सत्ता है, जो आनन्दमय रूप में विराज रहे हैं, उन्हीं की ओर हमारा चित्त आकृष्ट होता है। वह आकर्षण उन्हीं का न समझकर, हम जड़ के आवरण का ही आकर्षण समझ बैठते हैं और इसीलिए बन्धन में पड़ते हैं। किन्तु आकर्षित करने वाली वस्तु को ईश्वर-दृष्टि से देखने पर, फिर वह बन्धन का कारण नहीं होती। इसके द्वारा ही हम समझ सकते हैं कि जिन दृश्यों को देखकर साधारण व्यक्ति के मन में बुरे भावों का उदय होता है, उसी को देखकर ठाकुर क्यों भगवदानन्द में विभोर हो जाते थे? शराबी का मतवालापन क्या किसी के मन में धर्मभाव का उद्रेक करता है? लेकिन शराब पीकर हो या चाहे जैसे भी, आनन्द की अनुभूति हो रही है। वह आनन्दानुभूति ठाकुर के मन में परमानन्द की अनुभूति जगा देती है, वे समाधिस्थ हो जाते हैं।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रसगों में, जहाँ तीव्र विषय-सुख मनुष्य को आकर्षित कर रहा है, ठाकुर की दृष्टि में वहाँ विषय नहीं भगवान हैं। विषयानन्द भी भगवद-आनन्द का ही एक लघु अंश है। प्रकाश के ऊपर आवरण रहने पर भी जैसे किसी छिद्र से प्रकाश की एक सूक्ष्म किरण बाहर निकल आती है, वैसे ही ब्रह्मानन्द का ही यह लघुतम अंश विषयरूप आवरण को भेदकर आ रहा है और हम उसकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं। इसीलिए ठाकुर बार-बार कहते हैं, विषय के प्रति प्रेम आबद्ध करता है, इसे उनके ऊपर आरोपित करो। इसी को कहते हैं दिशा मोड़

देना। इसी तरह असद्‌वृत्तियों की दिशा को फेरकर वस्तु के स्वरूप का अनुभव करने की चेष्टा करते करते विषय अदृश्य होकर वहाँ स्वयं परमेश्वर ही अभिव्यक्त होंगे, उन्हीं के आकर्षण का बोध होगा। यह साधना का एक विशेष अंग है, विशेषकर भक्तिपथ का यह भी एक उपाय है।

यह उपाय भक्तिशास्त्र में इसी प्रकार गृहित हुआ है। मिट्टी, पत्थर या लकड़ी की एक मूर्ति बनाकर हम सोचने लगे कि ये परमेश्वर हैं -यह उन्हीं की मूर्ति है, इसके भीतर हम उन्हीं का चिन्तन करेंगे। मूर्ति हमारे लिए प्रत्यक्ष है, उसको हम सजा-सँवार सकते हैं, हिला-डुला सकते हैं, जबकि ईश्वर को तो हम पकड़ नहीं सकते, छू नहीं सकते। यद्यपि विचार की दृष्टि से देखने पर हम भलीभाँति समझते हैं कि मूर्ति ईश्वर नहीं है, यह किसी मूर्तिकार द्वारा गढ़ी हुई हैं, किन्तु फिर भी शास्त्र का निर्देश है– "उसमें ईश्वर भाव रखो।" हम मूर्ति को सजाते हैं, सँवारते हैं उस पर अपना प्रेम अर्पित करते हैं— यही करते करते मूर्ति के भीतर वे आविर्भूत होंगे। यह हुआ दिशा मोड़ देना। हम कहते हैं कि साधना के द्वारा देवता जाग्रत होते हैं, अथवा अमुक जगह के देवता बड़े जाग्रत हैं। इसका अर्थ क्या है? क्या देवता सोये हुए हैं और उन्हें झकझोर कर जगाना होगा? नहीं ऐसा नहीं है। हमारी दृष्टि से वे सोये हुए हैं। अर्थात् मैं स्वयं जाग्रत नहीं हूँ। उनके अस्तित्व के विषय में सचेतन नहीं हूँ। केवल आरोप ही करता जा रहा हूँ कि वे हैं, वे हैं, वे हैं। इस प्रकार विचार करते करते प्रेम पहले स्थूल रूप की ओर गया, फिर मृण्मय-रूप का चिन्तन करते-करते वहीं चिन्मय-रूप प्रकट हो उठा। यही साधना

की परिणति है। पूजा करते समय पूजाविधि के अनुसार मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करनी होती है। यह प्राण कहाँ से आता है? अपने ही प्राण से आता है। हम कल्पना करते हैं कि हमारे हृदय से जाकर देवता उस मूर्ति में अधिष्ठित हुए हैं।

प्रतीक उपासना

अभिप्राय यह है कि देवता हृदय में ही हैं, किन्तु हृदय में होते हुए भी वहाँ परिपूर्ण रूप से हम उनकी पूजा नहीं कर पाते, क्योंकि मन वहाँ स्थिर नहीं होता। हम सभी प्रयास करते हैं और समझ सकते हैं कि हृदय में उनकी भावना करना कितना कठिन है। इसलिए एक अवलम्बन की आवश्यकता है, जहाँ मन को एकाग्र किया जा सके। मूर्ति वही बाह्य अवलम्बन है। पूजा का पात्र वह नहीं है, बाह्य पूजा का पात्र तो उनका प्रतीकमात्र है। जब हम उसकी पूजा-अर्चना करते हैं, तो हमारा मन क्रमशः उस स्थूल वस्तु का आश्रय लेकर चिन्मय सत्ता में जाने का प्रयास करता है। ऐसा करते करते वहाँ भगवत्सत्ता अभिव्यक्त होगी। यही अभिव्यक्ति मन का लक्ष्य है। इसी तरह ठाकुर ने भक्त-महिला से भतीजे पर गोपाल की सत्ता का आरोप करके उसे अपना प्रेम अर्पित करने को कहा। ठाकुर का ही कथन है— काष्ट पत्थर में भगवान की पूजा होती है, तो मनुष्य में नहीं होगी? मनुष्य में भी पूजा होती है। इसीलिए तो दुर्गापूजा के समय कुमारी की पूजा होती है। उस बालिका के न दस हाथ होते हैं और न वह सिंहवाहिनी होती है, लेकिन उसके भीतर दसभुजा के आविर्भाव की कल्पना करके पूजा की जाती है। क्योंकि जब तक मन स्थूल

है, तब तक एक स्थूल आश्रय अथवा आधार की आवश्यकता होती है, स्थूल मन जिसे पकड़ सके, समझ सके और जिसका सहारा लेकर क्रमशः एकाग्र हो सके।

केवल मूर्ति ही नहीं, शब्द भी प्रतीक होता है। जब 'ॐ'कार को भगवान का प्रतीक समझकर उपसना करते हैं तब हम उस शब्द को ब्रह्म नहीं, बल्कि ब्रह्म के स्वरूप की कल्पना कर उपासना करते हैं। इसी तरह भगवान का ध्यान करते समय हम उनकी जिस मनोयमी मूर्ति का चिन्तन करते हैं, वह भी प्रतीक है। साक्षात् उनके होने पर इतना प्रयास करके अभिनिवेश करने की आवश्यकता न होती। इस तरह से उनकी अनेक प्रकार की प्रतिमाएँ व प्रतीक हो सकते हैं, जिनका अवलम्बन करके हम उनका ही चिन्तन करते हैं, प्रतीकों को उनसें अलग करके चिन्तन नहीं करते। विषयासक्त मन को किसी एक प्रतीक में केन्द्रित करने पर धीरे धीरे मन में स्थिरता आती है और भक्ति की उपलब्धि होती है। इसीलिए भागवत में विग्रहोपासना को साधना का प्रथम चरण कहा गया है। वहाँ पर जो त्रिविध भक्तों की बात कही गई है, उसमें मूर्तिपूजक प्रारम्भिक भक्त हैं।

साधारण मनुष्य को भक्ति पाने के लिए प्रतीक का सहारा लेना अपरिहार्य है। स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य देशों में व्याख्यान देते हुए कहा था— हम लोग मूर्तिपूजा करते हैं इसलिए तुम लोग हमारा उपहास करते हो और कहते हो कि तुम ईश्वर की पूजा करते हो। 'ईश्वर' कहने पर एक शब्द के अतिरिक्त क्या और कोई भाव तुम्हारे मन में उठता है? यह शब्द तो एक प्रतीक है, जिसका अवलम्बन करके तुम ईश्वर की पूजा करते हो और जिस प्रतीक को

छोड़कर ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन ही नहीं कर पाते। कभी तुम ईश्वर शब्द का, तो कभी चर्च में स्थित मूर्ति का या क्रॉस-चिह्न का चिन्तन करते हो। ये सभी तो प्रतीक हैं और ये मन को केन्द्रित करने के स्थूल साधन हैं। तो फिर पार्थक्य कहाँ है? इसलिए जब तक मनुष्य मन की शुद्धता न अर्जित कर ले, तब तक वह प्रतीक को छोड़कर ईश्वर का बिल्कुल भी चिन्तन नहीं कर सकेगा। अश्विनी कुमार दत्त की 'भक्तियोग' पुस्तक में एक कविता है—

ढेकी भजे जदि एई भवनदी पार हते पारो बन्धु,
लोकेर कथाय किबा आसे जाय प्रियसुखे प्रेममधु।

ढेकी का भजन करके यदि हम भगवान को पा सकें, भवसमुद्र को पार कर सकें, तो फिर लोग चाहे मूर्तिपूजक कहें या मूर्ख कहें, उसमें दोष क्या है? जिससे जैसे हो, मन को ईश्वर की ओर मोड़ने की चेष्टा करे— ठाकुर का यही उपदेश है।

डॉ. सरकार ज्ञानमिश्रा-भक्तिवादी हैं, रागात्मिका भक्ति उतना समझते नहीं। इसलिए कहते हैं, कामक्रोधादि रिपुओं को वश के लिए बिना भगवान को नही पाया जा सकता। ठाकुर नें इस बात को स्वीकार कर लिया। डॉ. सरकार के रास्ते को उन्होंने गलत नहीं कहा, बोले, "उसे विचार मार्ग कहते हैं—ज्ञानयोग", पहले रिपुओं के साथ संग्राम करके विजय प्राप्त करके, फिर उस विजित मन को भगवान की ओर लगाना पड़ता है। बात समझ में तो आती है पर इसे करना आसान नहीं है। क्योंकि इसमें पहले चित्तशुद्धि है, उसके बाद भगवान को पाने का प्रयास किया जाता है।

भक्तिपथ : सहज और स्वाभाविक है

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "भक्तिपथ से भी वे मिलते हैं।" ईश्वर के पादपद्मों में भक्ति होने पर, उनका नामगुणगान अच्छा लगने पर — प्रयत्न करके इन्द्रिय-संयम नहीं करना पड़ता। भगवान का यह जो अच्छा लगना है। यही भक्तिपथ, अनुराग का पथ है, यह संग्राम का पथ नहीं है। भागवत में हम देखते हैं कि भगवान को गोपियाँ कान्तरूप में, यशोदा संतानरूप में और ग्वालबाल सखा के रूप में पाते हैं। यह सब भक्ति का पथ है, अनुराग का पथ है। इस अनुराग के फलस्वरूप जब भगवान में रुचि आती है तब मन को विषयों से हटाकर उनमें लगाने के लिए षडरिपुओं से युद्ध नहीं करना पड़ता।

ठाकुर अन्यत्र भी बारम्बार कहते हैं—यह भक्तिपथ ही सहज स्वाभाविक पथ है। क्योंकि प्रेम करना मनुष्य का स्वभाव है और प्रेम करने के लिए प्रेमास्पद का चुनाव कर लेना पड़ता है। भगवान को यदि प्रेमास्पद के रूप में ग्रहण कर लिया जाय या ग्रहण करने का अभ्यास किया जाय तो फिर मन के साथ संघर्ष करके उसे भगवान की ओर ले जाने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उनके ऊपर मन लग जाए तो वह अपने आप एकाग्र हो जाता है। जैसे माँ जब सन्तान से प्रेम करती है, तब सन्तान की ओर उसका मन एकदम केन्द्रित रहता है, विशेषकर जब सन्तान छोटा शिशु होता है। तो क्या वह त्यागी या ध्यानी है इसलिए ऐसा होता है? ऐसी बात नहीं। चूँकि सन्तान स्नेह का पात्र है, माँ के मन की स्वाभाविक गति ही उसकी ओर है, प्रयत्नपूर्वक उसे एकाग्रता का अभ्यास नहीं करना पड़ता। यही है सहज

सरल स्वाभाविक मार्ग, जिस पर चलने से इन्द्रियसंयम आदि साधना के लिए जिस संग्राम की नितान्त आवश्यकता है, उसे नहीं करना पड़ता। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहते हैं इस भक्ति-भक्ति से भी वे मिलते हैं। वे एक दृष्टान्त देते हैं। यदि किसी को पुत्र का शोक हो, तो क्या उस दिन वह किसी के साथ लड़ाई कर सकता है? या न्योते में खाने के लिए जा सकता है? अथवा अन्य कोई सुख-भोग कर सकता है? उन्होंने एक ओर भी दृष्टान्त दिया— "पतंगा अगर एक बार उजाला देख ले, तो क्या वह अंधकार में रह पाता है?" परिणाम की चिन्ता छोड़कर वह प्रकाश की ओर जाता है।

परिणाम की बात सोचकर डॉ. सरकार कहते हैं, "चाहे जल ही क्यों न मरें, वह भी स्वीकार है! उनका अभिप्राय यह था कि अपात्र को प्रेम अर्पित करने पर उसके परिणामस्वरूप अनिष्ट हो सकता है। ठाकुर तुरन्त कहते हैं— ऐसा नहीं होता। क्यों नहीं होता? वस्तुधर्म के कारण। यहाँ पर प्रेमास्पद जो वस्तु है, उसके चिन्तन में मनुष्य का कभी अकल्याण नहीं होता, भगवान के सम्बन्ध में उसकी धारणा स्पष्ट हो या न हो, उसका प्रेम ही उसे भगवान के सान्निध्य में ले जाएगा एवं उसके प्रयत्न न करने पर भी भगवान का स्वरूप उसके समक्ष व्यक्त हो जाएगा। गोपियों ने इसी तरह से भगवान के स्वरूप को जाना था, साधना के द्वारा नहीं। उनके प्रेम के फलस्वरूप भगवान का स्वरूप उनके समक्ष स्वतः उद्घाटित हुआ था। भागवत में गोपियाँ कहती हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।१०/३१/४

—हे भगवान, तुम केवल गोपियों के आनन्ददायक श्रीकृष्ण नहीं हो, समस्त प्राणियों के तुम अन्तरात्मा हो और द्रष्टा के रूप में सब देख रहे हो। यह कहने का अभिप्राय यह है कि तुम्हारे विरह में हमारी यह जो वेदना है इसे क्या तुम नहीं देखते? लेकिन बोलती किस प्रकार हैं? कहती हैं कि अखिल प्राणियों के अन्तर में रहकर सबको देखते हो, हमारा भी जो दुःख है, उसे तुम जानते हो। गोपियों ने उन्हें जो इस रूप में पहचाना वह कैसे पहचाना? साधना के द्वारा? साधना उन्होंने नहीं की। शास्त्र पढ़कर? शास्त्र भी उन्होंने नहीं पढ़े। तो क्या यज्ञादि करके? नहीं, वह भी उन्होंने नहीं किया। उनका एकमात्र अवलम्बन था भगवान के प्रति प्राणपण से प्रेम। उनके पास और कुछ न था। इस सम्पदा से सम्पन्न गोपियों के समक्ष भगवान भी अपने स्वरूप को प्रकट किये बिना नहीं रह सके। जो अनन्य भाव के साथ उनसे प्रेम करते हैं, उनके सामने भगवान का स्वरूप कभी छिपा नहीं रहता। अतः गोपियों का यह जानना ज्ञानी अथवा योगियों के जानने के समान नहीं है। बल्कि आन्तरिक प्रेम के द्वारा जानना, जिसका एकमात्र उपाय है उनसे प्रेम करना। विचार की सहायता से इन्द्रिय संयम के द्वारा मन को उनमें निविष्ट करके उनके स्वरूप को खोज निकालना यह है ज्ञान अथवा विचार का पथ। यह प्रणाली गोपियों की नहीं है। इसीलिए उन्होंने उद्धवजी से कहा था—क्या हम योगी अथवा ज्ञानी हैं, जो मनःसंयम करके ध्यान करेंगी? और जिस मन के द्वारा हम ध्यान करेंगी, उसे तो हमने

पहले ही श्रीकृष्ण को के चरणों में समर्पित कर दिया है।

कई बार मन में यह प्रश्न उठता है कि अपने प्रेमास्पद भगवान को जाने बिना हम उनसे प्रेम कैसे करेंगे? ठाकुर भी कहते हैं — "जिनसे प्रेम करोगे, उन्हें जाने बिना कैसे प्रेम करोगे?" बात सत्य है। किन्तु यह भी सत्य है कि जन्म-जन्मान्तर की साधना से भी जिन्हें नहीं जाना जा सकता, उन्हें जानकर प्रेम करने से प्रेम करना कभी न होगा। इसलिए ठाकुर कहते हैं — आरोप करना पड़ता है। सबके हृदय में प्रेम की अनुभूति है, कोई प्रियजन से, कोई धन सम्पदा से, तो कोई मान-यश से प्रेम करता है। इस विषयाभिमुखी प्रेम की धारा को मोड़कर यदि भगवान की ओर लगा दिया जाय, तो वह प्रेम हमें बन्धन में न डालकर, वस्तुधर्म के गुण से मुक्ति का उपाय हो जाता है। तब उसमें अशुद्धि नहीं रह जाती। गोपियों ने जब भगवान को चाहा था, तब उन्हें भगवान के रूप में नहीं चाहा था, बल्कि कान्त के रूप में, प्रियतम के रूप में चाहा था, जो सम्बन्ध समाज में निन्दनीय है। तथापि उन्हें मुक्ति क्यों मिली? भागवत में यह प्रश्न उठाया गया है।

यहीं पर भगवान की भगवत्ता है। किसी भी भाव से मन उनकी ओर जाने पर वस्तुधर्म के अनुसार मन पवित्र हो जाएगा। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "किसी भी तरह से हो, भगवान में मन लगाओ, मन की दिशा मोड़ दो।" भक्तियोग की यही प्रणाली है। परन्तु यह प्रेम साधारण प्रेम नहीं है,

मात्र दुकानदारी नहीं है। दुकानदार कहता है कि इस वस्तु के बदले इतना दाम देना होगा। यह आदान-प्रदान जिस प्रेम में नहीं है, वही सच्चा प्रेम है।

गोपियों ने भगवान से एक बार ऐसा ही प्रश्न किया था। गोपियाँ कातर होकर भगवान को वन वन खोजती फिर रही हैं। बहुत खोजने के बाद, बड़ा कष्ट उठाने के बाद कहीं भगवान प्रगट हुए। गोपियों को बड़ा अभिमान हुआ। भगवान आये, लेकिन इतना कष्ट देकर आये। बोलीं, "मनुष्यों में अनेक प्रकार के आपसी सम्बन्ध हैं। कोई प्रेम पाकर प्रतिदान में प्रेम देता है, कोई न पाकर भी, अपेक्षा न रखते हुए भी प्रेम करते हैं। फिर कोई ऐसे हैं जो प्रेम पाकर भी प्रतिदान में प्रेम नहीं करते। कोई प्रेम पाकर भी प्रेम देते हैं और न पाकर भी देते हैं।" गोपियों की इस बात का अभिप्राय भगवान समझ गये। उन्होंने कहा — लेकिन मैं इनमें से किसी भी श्रेणी का नहीं हूँ। उन्होंने व्याख्या की — जहाँ प्रेम पाकर प्रेम किया जाता है, वहाँ तो प्रेम नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, केवल दुकानदारी है। फिर जो प्रेम पाकर भी प्रतिदान में प्रेम नहीं करता, वह कृतघ्न है। और जो प्रेम पाकर भी प्रेम करता है और न पाकर भी वह या तो कृतकृत्य है या फिर आत्माराम। मैं न तो दुकानदार हूँ न कृतघ्न और न ही योगी। गोपियों ने पूछा — तो फिर हमें इतना कष्ट क्यों दिया? भगवान बोले- तुम्हारी व्याकुलता बढ़ाने के लिए मैं अन्तर्हित हो गया था।

ज्ञानपथ

विचार का पथ, ज्ञानयोग का पथ - किसी भी पथ को ठाकुर अस्वीकार नहीं करते। कहते हैं, यह पथ बड़ा कठिन है। काँटों से हाथ छिदे जा रहे हैं, धर-धर खून गिर रहा है, फिर भी कहे जा रहा हूँ, मेरे हाथ में काँटा नहीं चुभा, मैं अच्छी तरह हूँ।" जब तक ज्ञानाग्नि में काँटा जल न जाय, यह बात कहना शोभता नहीं। यह मार्ग इसलिए कठिन है कि मनुष्य जिस बात को मन बुद्धि के द्वारा समझ लेता है, हृदय से उसे ग्रहण नहीं कर पाता। और हृदय की भावप्रबलता के सामने बुद्धिग्राह्य विषय तुच्छ हो जाता है, इसे हम सर्वदा समझते हैं। शास्त्र कहते हैं ज्ञानयोगी होने के लिए पहले कामनाहीन होना होगा।

ठाकुर कहते हैं, भक्तिपथ के द्वारा भगवान को पाना सामान्य जन के लिए सम्भव है। अन्यथा विषयों के प्रति तीव्र वैराग्य न होने पर, विचारपथ किसी काम नहीं आता। इसीलिए विवेक-वैराग्यहीन पण्डितगण ठाकुर को खर-पतवार के समान तुच्छ प्रतीत होते थे। जो पाण्डित्य केवल बागाडम्बर, शब्दजालविस्तार तथा अनेक बातों की जानकारी मात्र हो, वह मन को प्रभावित नहीं कर सकता। वे बातें जीवन में ओतप्रोत नहीं होती, जीवन को प्रभावित नहीं कर पातीं। दो दिन बाद विद्या का विलय हो जायेगा, बुद्धिभ्रष्ट होकर मन विषयासक्त होगा और फिर वही पुरानी अवस्था लौट आएगी। पाण्डित्य इसी त‑ह निष्फल हो जाता है, जीवन में कोई उपकार नहीं करता।

पाण्डित्य और धर्मजीवन

"धर्म की उपलब्धि के लिए कितनी ही किताबें पढ़नी पढ़ती हैं"—महिमाचरण का यह मत सुनकर ठाकुर ने कहा था – पढ़कर ज्ञान हो जाने से तो वस्तुलाभ सहज ही हो जाता। "पढ़ने की अपेक्षा सुनना अच्छा है, सुनने की अपेक्षा देखना अच्छा है।" ग्रन्थ तो ग्रन्थमात्र है, उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। जिसके व्यक्तित्व का प्रभाव है, ऐसे किसी व्यक्ति से सुन लेने पर वह सुनना पढ़ने की अपेक्षा अधिक उपयोगी होगा। किन्तु पढ़कर अथवा सुनकर पाया हुआ ज्ञान परोक्ष है। इसलिए कहते हैं कि सुनने की अपेक्षा देखना अच्छा है। अर्थात् सत्य का साक्षात्कार करना होगा—"**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** (बृह.उ.२.४.५)— आत्मा का दर्शन करना होगा। इसीलिए श्रवण, मनन और ध्यान करना होगा। आत्मा का साक्षात् अनुभव करने के ये ही तीन उपाय हैं। पढ़कर या सुनकर नहीं, साक्षात् अनुभव। इस प्रत्यक्ष अनुभूति के प्रभाव से जन्म जन्मान्तर के उल्टे-सीधे संस्कार समूल रूप से नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रलब्ध ज्ञान के द्वारा संशय दूर नहीं होते, वह प्रत्यक्ष का विरोधी प्रतीत होता है। 'तुम ब्रह्म हो', अथवा 'जगत मिथ्या है', इस वाक्य को बारम्बार सुनने के बाद भी हम इसकी धारणा नहीं कर पाते। यह मात्र शब्दज्ञान है। प्रत्यक्ष अज्ञान को दूर नहीं कर सकता। इसीलिए उपाय के रूप में से कहते हैं कि पहले सुनना होगा, फिर विचार

करना होगा, और तब सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिए निदिध्यासन के द्वारा मन को स्थिर करना होगा। इस तरह अभ्यास करते-करते ज्ञानयोग के द्वारा वस्तु का साक्षात्कार करना होगा। अतएव शास्त्र की बातें सुनना और साक्षात् अनुभव करना इन दोनों में बड़ा अन्तर है।

शास्त्र अथवा महापुरुष की बातें सुनकर भी जीवन परिवर्तित न होने पर, वे बातें अर्थहीन हो जाती हैं। इस प्रसग में ठाकुर की वह पण्डित और माँझी की कथा याद रखनी होगी। नौका में सवार होकर पण्डित माँझी से पूछता है, कि उसने कौन कौन से वेद-वेदान्त आदि शास्त्र पढ़े हैं और माँझी कहता है कि वह तो कुछ भी नहीं जानता, कुछ भी नहीं पढ़ा। पण्डित ने कहा, "तब तो तुम्हारा बारह आना जीवन व्यर्थ ही गया।" उसी समय आँधी आ गयी। माँझी बोला, "महाराज तैरना जानते हैं?" अब इस बार पण्डित के 'नहीं' बोलने की बारी थी। माँझी ने कहा—तब तो आपका सोलहो आने ही व्यर्थ गया।

हम लोग भी शास्त्र आदि थोड़ा- बहुत जानते हैं, लेकिन असल बात नहीं जानते। अत: हमारा सोलहो आने व्यर्थ जा रहा है। ठाकुर कहते हैं, शास्त्रवाक्य को वृथा ही केवल मुँह से बोलकर क्या होगा? उसके सार वस्तु को जानना होगा, एवं उसे अपने जीवन में क्रियान्वित करना होगा। वे कहते 'सा चातुरी चातुरी'—वही चतुराई चतुराई है, जिसके द्वारा भवसमुद्र से पार उतरा जा सके। उसे न

जान पाने पर, न कर पाने पर, फिर भला क्या जाना गया? शास्त्र कहते हैं —

तमवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो
विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥ (मुण्डक २.२.५)

उस अद्वितीय आत्म को जानो, अन्य सब बातों का परित्याग करो, अमृतत्व की उपलब्धि का यही एकमात्र मार्ग है।

उपनिषद के नारद् सनत्कुमार संवाद में भी यही बात दिख पड़ती है।नारद जिन-जिन विषयों से अवगत हैं उनकी एक तालिका देतें हैं—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद भगवोऽध्येमि॥
(छन्दोग्य.७.१.२)

तालिका को देखकर यही समझ में आया कि उस समय प्रचलित समस्त विद्याओं में वे पारंगत थे। किन्तु इतने पर भी वे कहते हैं, मैं केवल मंत्रविद् हूँ, आत्मविद् नहीं। सुना है कि आत्मविद् लोग शोक को पार कर जाते हैं—**तरति शोकमात्मवित्**। अनात्मविद् हूँ इसलिए मैं शोक कर रहा हूँ। **सोऽहं भगवः शोचामि**। आप मुझे आत्मज्ञान देकर उस शोक से पार ले चलिए—**तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु**। (छा.७.१.३)

सब प्रकार की जागतिक विद्याएँ आयत्त हो जाने पर भी आत्मा को जाने बिना शोक को पार करके आनन्द-अमृत का अधिकारी नहीं हुआ जा सकता। अब इसी आत्मज्ञान के विविध उपायों में ठाकुर कहते हैं कि विचार का पथ, ज्ञानयोग का पथ कठिन है। क्योंकि इसके लिए पूर्व प्रस्तुति की आवश्यकता है। मन की इतनी तैयारी हो कि विचार के द्वारा, बुद्धि के द्वारा हम सत्य की उपलब्धि करें और मन उसे सर्वान्तःकरण से स्वीकार कर ले। साधारणतः विचार के द्वारा हम जिस सिद्धान्त तक पहुँचते हैं, अन्तःकरण ठीक उसके विपरीत पथ पर चलने की चेष्टा करता है। इसीलिए वह विचार हमारे किसी काम नहीं आता।

ठाकुर कहते हैं,"जो लोग शतरंज खेलते हैं, वे खुद चाल को उतनी अच्छी तरह नहीं समझते, परन्तु जो लोग खेलते नहीं और तटस्थ रहकर चाल बतला देते हैं, उनकी चाल खेलने वालों की चाल से बहुत अंशों में ठीक होती है।" यह जो चाल में गल्तियाँ होती हैं, थोड़ा विचार करने से ही वे समझ में आ जाती हैं। बात तो समझ में आ जाती है, किन्तु जीवन में उसे परिणत करना भी नही हो पा रहा है। ससारी मनुष्य मुँह से सत्य की प्रशसा करते हुए अथवा शास्त्रवाक्य उद्धृत करते हुए कहता है, **सत्यान्न प्रमदितव्यम्** - सत्य से विच्युत नहीं होना चाहिए। किन्तु परीक्षा की घड़ी आने पर सत्य से पकड़ ढीली हो जाती है। विषयासक्ति के कारण धन, सुख तथा यश के लिए आवश्यकता हुई तो हम

पग-पग पर झूठ बोलते हैं। विषयासक्ति का त्याग हुए बिना सत्य या नीति के पथ पर स्थिर रहना कठिन है। बुद्धि विभ्रान्त हो जाती हैं। जिसमें विषयाशक्ति है, वही संसारी है। संसार का अर्थ है — जो चला जाये अर्थात् नश्वर है। और उसी नश्वर वस्तु में जिसका अनुराग है, वही संसारी है। बाहर से वे चाहे जैसी बातें क्यों न करें, भीतर से वे विषयासक्त हैं। वे **स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यामानाः** ळ - वे अपने आपको बुद्धिमान तथा ज्ञानी मानते हैं। ठाकुर स्पष्ट रूप से समझा देते हैं, चूँकि वे लोग स्वयं खेल रहे हैं, अतः त्रुटि कहाँ हो रही है, खुद नहीं समझ पाते। चाल में भूल हो जाती है, लक्ष्य से वे भ्रष्ट हो जाते हैं। जीवन में जिस परम धन को अर्जित कर सकते थे, उसका सुयोग चला गया। कालिदास ने कहा है — **अल्पस्य हेतोर्बहु हार्तुमिच्छन् विचारमूढ़ः प्रतिभासि मे त्वम्** — थोड़े के लिए बहुत कुछ गँवाते हो, अतः तुम विचार के सम्बन्ध में मोहग्रस्त हो। इतनी बुद्धिहीनता होते हुए भी मनुष्य अपने आपको बुद्धिमान समझता है।

डॉ. सरकार ने दार्शनिक दृष्टि से सोचकर कहा, "पुस्तक पढ़ने से इनको (श्रीरामकृष्ण) इतना ज्ञान नहीं होता।" ठाकुर दोले, "पंचवटी में जमीन पर लोटते हुए मैं माँ को पुकारा करता था, तब मैंने माँ से कहा था, 'माँ कर्मयोगियों ने कर्म के द्वारा जो पाया है, योगियों ने योग के द्वारा जो देखा है, ज्ञानियों ने विचार के द्वारा जो जाना है,

वह सब मुझे दिखा दो,।" माँ के द्वारा यह दिखा देना बुद्धि से विचार करके पाना नहीं है, बल्कि मन की शुद्ध अवस्था में तत्व की अभिव्यक्ति है। ठाकुर का 'माँ' से तात्पर्य उनसे है, जिनके आलोक से जगत् आलोकित है, उसका नाम है 'शुद्धबुद्धि'– **या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता** — जो सर्वभूतों में बुद्धिरूप में विराज रही हैं।

मोहनिद्रा

शास्त्र कहते हैं, बुद्धि का स्वभाव है तत्वपक्षपात्—**तत्वपक्षपातो हि स्वभावो धियाम्** — तत्व के स्वरूप को उद्घाटित करना बुद्धि का स्वभाव है, किन्तु टिन के ढक्कन से ढँके हुए प्रकाश की तरह यह बुद्धि रागद्वेषादि मलिन आवरण से आवृत्त होने के कारण किसी वस्तु को बिल्कुल भी प्रकाशित नहीं कर पा रही हैं। इसीलिए सत्य को मिथ्या, मिथ्या को सत्य, नित्य को अनित्य, अनित्य को नित्य, सत् को असत्, असत् को सत् दिखाकर भ्रम उत्पन्न कर रही है। इसी अज्ञान-तत्व को न जानना अथवा विपरीत रूप में जानना, इसका नाम है मोहनिद्रा। हमारा समग्र जीवन ही निरविच्छिन्न निद्रा है। देवी-माहात्म्य में लिखा है — **या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता** — महामाया की माया ने सभी को सुला रखा है। वैसे ही जैसे बच्चों को सुलाकर माँ संसार के कार्य करती है। अन्यथा संसार की लीला ही नहीं चलेगी। सबकी नींद खुल जाने पर जगन्माता का खेल चलेगा नहीं एवं जब तक वे मोहजाल से मुक्त नहीं

कर देतीं, तब तक उनका खेल हम समझ भी नहीं सकेंगे। इसीलिए ऋषि सुरथ राजा से कहते हैं—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा।।
(देवीमा १३/४.५)

—हे महाराज, उसी परमेश्वरी के शरणागत होओ। भक्तिपूर्वक उनकी आराधना करने पर तुम जो चाहोगे, इहलौकिक अभ्युदय या पारलौकिक स्वर्गसुख अथवा मुक्ति — वे सब देंगी।

इसके बाद ठाकुर कहते हैं, "मैंने तो पुस्तक आदि नहीं पढ़ी; किन्तु देखो, माँ का नाम लेता हूँ इसलिए सब लोग मुझे मानते हैं। शम्भू मल्लिक ने मुझसे कहा था, "न ढाल, न तलवार और बने हैं शान्तिराम सिंह?"" विद्या, बुद्धि, पाण्डित्य जिन गुणों के द्वारा मनुष्य सांसारिक दृष्टि से बड़ा होने की सोचता है, उनमें से कोई भी ठाकुर में नहीं है। उनका तो केवल एक ही अस्त्र है — शिशु के समान माँ के ऊपर अनन्य निर्भरता। इसी निर्भरता के कारण ही योग के द्वारा योगियों को जो सिद्धि मिलती है, ज्ञान के द्वारा ज्ञानियों को जो फल प्राप्त होता है, वेद-वेदान्त में जो भी है, वह सब माँ ने उन्हें बता दिया। उन्हें स्वयं कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। माँ उनके भीतर रहकर सभी विषयों में उन्हें चला रही हैं। जगन्माता की सम्पूर्ण शक्ति,

विश्व की कल्याणकारिणी शक्ति, उनके भीतर से निर्बाधरूप से अभिव्यक्त हो रही है, अन्तर में और बाहर सर्वत्र माँ विराज रही हैं। जगन्माता जिनकी मुट्ठी में हैं, उन्हें फिर चिन्ता किस बात की? जब जो आवश्यकता हुई, माँगते ही यदि माँ से मिल जाय, तो फिर अन्य अस्त्र की क्या आवश्यकता? यद्यपि माँ शक्तिरूप सबके भीतर हैं। फिर भी हम युद्ध में हार जाते हैं, क्योंकि अविद्या का आवरण होने के कारण हमें माँ की उपस्थिति का अनुभव नहीं हो पाता।

सफलता का रहस्य

एक भाव को पकड़ो, उसी को लेकर रहो। आखिरी छोर तक पहुँचे बिना उसे मत छोड़ो। जो एक भाव लेकर उसी में मत्त रह सकते हैं, उन्हीं के हृदय में सत्य का उन्मेष होता है। और जो लोग थोड़ा यहाँ का, फिर थोड़ा वहाँ का, इस प्रकार खटाइयाँ चखने के समान सब विषयों को थोड़ा-थोड़ा चखते जाते हैं, वे कभी कोई चीज नहीं पा सकते।...एक विचार लो, उसी को अपना जीवन बनाओ, उसी का चिन्तन करो, उसी का स्वप्न देखो और उसी में जीवन बिताओ। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु तथा शरीर के सभी अंग उसी के विचार से पूर्ण रहें। अन्य समस्त विचारों को छोड़ दो। यही सिद्ध होने का उपाय है और इसी प्रकार बड़े-बड़े धर्मवीरों की उत्पत्ति हुई है।

—स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (१८/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डितजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके अठारहवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

रामचरितमानस में रामकथा के अन्त में मानस रोगों का वर्णन कुछ विचित्र सा लगता है। इसलिए कि रामकथा में बड़ी मधुरता है और रोग का दृश्य तो कोई आकर्षक नहीं होता। जब आप किसी चिकित्सालय में जाकर रोगियों को देखते हैं, तो स्वाभाविक रूप से ही वहाँ का वातावरण आपके लिए कोई बहुत उत्साहजनक नहीं होता। पर इतना होते हुए भी अस्वस्थ होने पर चिकित्सालय जाना व्यक्ति की बाध्यता है। व्यक्ति अगर अस्वस्थ हो जाय, तो स्वस्थता के लिए उसे रोग-निदान और चिकित्सा की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में चिकित्सालय प्रिय भले ही न लगे, पर वह कल्याणकारी तो है ही।

रामकथा के समान मधुरता मानसरोग के प्रसंग में नहीं है, क्योंकि इसमें मन की अवस्थाओं का, सूक्ष्म वासनाओं का ही वर्णन है। यह इतना आवश्यक है कि गोस्वामीजी ने नि:संकोच भाव से रामकथा के बाद मनुष्य के मन के रोगों का वर्णन किया है, और तत्पश्चात उसकी चिकित्सा का वर्णन करके रामकथा का समापन किया है। और यही हमारे आपके जीवन का सत्य है। हम कितने भी

समृद्ध क्यों न हों, हमारा परिवार कितना भी बडा क्यों न हो, पर जब हम बीमार हो जाते हैं तो सब कुछ व्यर्थ प्रतीत होता है, दुःखद प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार जब व्यक्ति और समाज का मन अस्वस्थ हो जाता है तब न तो व्यक्ति सुखी रह पाता है और न समाज। जैसे किसी व्यक्ति को खाँसी आने पर वह स्वयं तो रात्रि में सो नहीं पाता, साथ ही आसपास के लोगों को भी नींद आना कठिन हो जाता है। उन्हें बड़ा बुरा लगता है, लेकिन यह रोगी की बाध्यता है। शरीर के रोगों में तो जब कोई व्यक्ति अस्वस्थ होता है तो अपने निकट के लोगों को ही उत्पीड़ित करता है, मन के रोगों में तो यह उत्पीड़न और भी अधिक व्यापक है। मन का रोगी न तो स्वयं सुख, चैन और शान्ति से रह सकता और न दूसरों को रहने देता है।

आज समाज में चारों ओर जो अव्यवस्था और अशान्ति दिखाई दे रही है, यदि हम गहराई से उसके मूल में पैठकर देखें, तो यही कह सकते हैं कि समाज में मन के रोग इतने अधिक बढ गये हैं कि इसके परिणामस्वरूप समाज में चारों ओर विग्रह और अशान्ति दिखाई पड रही है। मन के इन रोगों को दूर करने के लिए मन की चिकित्सा करने की आवश्यकता है। भौतिक शरीर की सुरक्षा और स्वस्थता के लिए जैसे चिकित्सा की आवश्यकता है; शासन की ओर से इसका प्रबन्ध है; महापुरुषों, आश्रमों और सेवा-प्रतिष्ठानों द्वारा भी उस दिशा में प्रयास होते हैं। परन्तु शरीर की अपेक्षा मन की स्वस्थता कहीं अधिक आवश्यक है, उसके लिए भी चिकित्सालय की आवश्यकता है। लेकिन इस चिकित्सालय की व्यवस्था शासनतंत्र की ओर से सम्भव नहीं है; बल्कि यह तो सन्तों के द्वारा ही सम्भव है। इसका

संकेत हमें मानस के अयोध्याकाण्ड में श्री भरत के चरित्र के माध्यम से मिलता है।

गुरु वशिष्ठ श्री भरत से जब यह कहते हैं कि तुम अयोध्या का राज्य-संचालन करो, प्रजा की सेवा करो, माताओं की सेवा करो, समाज की सेवा करो, तो उनका यह प्रस्ताव बड़ा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। और इतना ही नहीं, कभी तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि अन्त में श्री भरत को यही करना भी पड़ा। उन्होंने चौदह वर्ष तक राज्य चलाया। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में अयोध्या के सारे समाज को, इतने बड़े जनसमूह को लेकर चित्रकूट जाने की क्या आवश्यकता थी? गुरु वशिष्ठ की आज्ञा मानकर वे प्रजा की सेवा करते और चौदह वर्ष पश्चात् श्री राम के लौट आने पर राज्य उन्हें सौंप देते। लेकिन यहीं पर रामचरितमानस का जीवन-दर्शन निहित है। और यह जीवन-दर्शन विशेष रूप से इसी युग के सन्दर्भ में प्रासंगिक है। गोस्वामीजी तो एक बहुत बड़ी बात कहते हैं। अयोध्याकाण्ड के अन्त में उन्होंने कहा कि अगर श्री भरत का जन्म न हुआ होता, तो संसार को कुछ बातों से वंचित रहना पड़ता। उनमें से एक एक को गिनाते हुए वे कहते हैं—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिसम ब्रत आचरत को।। २/३२६

—श्री भरत का जन्म न हुआ होता तो श्री राम के प्रेम की परिपूर्णता समाज के सामने न आ पाती।

बड़े-बड़े तपस्वियों और मुनियों के लिए भी जो साधना कठिन है, उसे अपने जीवन में साकार करके कौन दिखाता ! और अगली पंक्ति में वे और भी महत्व की बात

कहते हैं कि समाज में जो दुःख, पीड़ा, जलन और दरिद्रता है, उसे दूर करने में श्री भरत को छोड़कर दूसरा कौन समर्थ है? लेकिन सुननेवाला अचानक गोस्वामीजी से पूछ बैठता है कि महाराज, ये बातें तो त्रेतायुगवालों के लिए थीं। श्री भरत त्रेतायुग में आये और उस युग के लोगों ने उनके प्रेम को देखा, उनके जीवन की साधना और तपस्या को देखा। उस युग की जो समस्याएँ थीं—जो दुःख, दरिद्रता और दीनता थी, उनका उन्होंने समाधान किया; परन्तु आज तो आप केवल उनकी कथा ही सुना रहे है, केवल अतीत का इतिहास सुना रहे हैं। तब अन्तिम पंक्ति में गोस्वामीजी मानो संकेत कर देना चाहते हैं—नहीं नहीं, मैं किसी पुरातन युग की ही बात नहीं कह रहा हूँ, वह तो बिलकुल वर्तमान से जुड़ा हुआ इसी युग का सत्य है। इस छन्द की अन्तिम पंक्ति में गोस्वामीजी अपना दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—मैं तो इस युग का व्यक्ति हूँ। मैं अस्वस्थ था। गोस्वामीजी ने अपने जीवन में एक तीव्र अस्वस्थता का अनुभव किया था। और यदि मानस रोग की भाषा में कहें तो उन्हें वातज्वर हो गया था। क्योंकि मानसरोग के प्रसंग में कहा गया है—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥ ७/१२१/३०

काम ही मन का वात रोग है। गोस्वामीजी के जीवन में कितनी तीव्र कामुकता थी, उसका कितना तीव्र आवेग था, इससे आप लोग परिचित हैं। पर अन्त में वे इस रोग से मुक्त हुए, स्वस्थ हुए। किस उपाय से? आज के युग में इन मानसरोगों से पीड़ित व्यक्ति और समाज को वे स्वस्थ रहने का वह उपाय बता देते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

'कलिकाल' —इस कलियुग में, इसका अभिप्राय है कि यह त्रेतायुग का ही सत्य नहीं, बल्कि एक बात मैं और बता दूँ कि जब त्रेतायुग में राम वन गये तो केवल भौतिक सन्दर्भ में वह त्रेतायुग था। लेकिन अगर हम मानसिक दृष्टि से इस पर विचार करें तो इसका सीधा सा तात्पर्य यह होगा कि जब हमारे अन्तःकरण में ध्यान-समाधि की इच्छा जाग्रत हो, अन्तर्मुखता उत्पन्न हो, तो उस समय समझ लेना चाहिए कि हम मन से सतयुग में निवास कर रहे हैं। जिस समय हमारे अन्तःकरण में लोकसेवा, परोपकार तथा यज्ञ की वृत्ति आवे तो समझ लेना चाहिए कि हम त्रेतायुग में हैं। और जिस समय हमारे अन्तःकरण में पूजा एवं भगवान की आराधना की वृत्ति उदित हो तो समझ लेना चाहिए कि हम मानसिक रूप से द्वापरयुग में निवास कर रहे हैं। गोस्वामीजी ने युगधर्म का वर्णन इसी रूप में किया है—

कृतयुग सब जोगी बिग्यानी।
करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं।
प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा।
नर भव तरहिं उपाय न दूजा।।७/१०३/१-१-३

पर जब मन में दूसरों के कष्ट देने की वृत्ति आए तब? जब दूसरों को संकट में देखकर हमें प्रसन्नता हो, जब हमारे अन्तःकरण में काम, क्रोध, आदि की वृत्तियाँ आएँ तो उस समय समझ लेना चाहिए कि कलियुग में बैठे हुए हैं। फिर इस क्रम में विपर्यय भी होता है। जैसे ऋतुओं के क्रम में आप देखते हैं, शीत ऋतु में ठण्डक की प्रधानता है, ग्रीष्म में गर्मी की और वर्षा ऋतु में वर्षा की। लेकिन इसमें कभी

कभी विपर्यय भी होता है। कभी कभी शीतऋतु में भी ठण्डक का अनुभव नहीं होता, गर्मी की अनुभूति होती है। उस समय ऋतु का नाम भले ही शीतऋतु हो पर अनुभूति दूसरे ऋतु की होती है। इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु में गर्मी पड रही है, अचानक वर्षा हो गई तो ठण्डक आ जाती हैं। और तब नाम उसका भले ही ग्रीष्म ऋतु हो पर उस समय हम शीतलता का अनुभव करते हैं, वर्षा का अनुभव करते हैं, ग्रीष्म का अनुभव नहीं होता है। तो जैसे ऋतुओं के क्रम में विपर्यय होता है, उसी तरह युगों में भी विपर्यय होता है। जब सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग कहते है तब इसका एक अर्थ तो यह होता है कि इतने वर्ष तक सतयुग, इतने वर्ष तक त्रेता, इतने वर्ष तक द्वापर और इतने वर्ष तक कलियुग रहेगा। पर ये चारों युग सतयुग में भी होते हैं, और त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में भी होते हैं। और केवल चारों युगों में ही नहीं बल्कि हमारे आपके जीवन में भी नित्य चारों युग आते हैं। जिस समय हम जिस युग की मनःस्थिति में रहते हैं, उस समय हमारे जीवन में वही युग रहता है। एक ही स्थान पर बैठे हुए अलग अलग लोगों को अलग अलग युग की अनुभूति होती है। जो कथा में बैठे हुए हैं वे किस युग में बैठे हुए हैं? जिसकी दृष्टि किसी दूसरे के जूते पर लगी हुई है वे कलियुग में ही तो बैठे हुए होंगे। तात्पर्य यह है कि शरीर चाहे जहाँ हो, व्यक्ति का मन जिस युग की मनोभूमि पर होगा वह उसी युग में विद्यमान होगा। तो राम जब अयोध्या से निकाल दिये गये वह क्या त्रेतायुग था? मन्थरा के द्वारा कैकयी के अन्तःकरण में जो विकृति उत्पन्न की गई, वह क्या त्रेतायुग का लक्षण है? वस्तुतः वह त्रेता में कलियुग आ गया था। कलियुग का जैसा लक्षण है

वह सारा का सारा वातावरण वहाँ बन गया था। गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री भरत तो कलियुग-वालों के लिए हैं। अन्य युगवालों के लिए भी उनमें प्रेरणा है, सतयुग-वालों के लिए प्रेरणा इसलिए है कि भरत महान योगी हैं, साधक हैं; त्रेतायुग-वालों के लिए इसलिए हैं कि उनके चरित्र में लोकोपकार और सेवा की उत्कृष्टतम भावना है, द्वापर के लोगों के लिए वे इसलिए प्रेरक हैं कि उनके जैसा पूजा करने वाला भी कोई दूसरा नहीं हैं। श्री भरत महान विज्ञानी हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

सोक कनकलोचन मति छोनी।
हरी बिमल गुन गन जगजोनी।।
भरत बिबेक बराहँ बिसाला।
अनायास उधरी तेहि काला।। २/२९७/३-४

—"जगत के समस्त गुणों की जननी बुद्धिरूपी पृथ्वी का जब शोकरूपी हिरण्याक्ष ने हरण कर लिया, तब भरतजी के विवेक रूपी विशाल वाराह ने अनायास ही उनका अविलम्ब उद्धार कर दिया।" इस प्रकार भरत के विवेक को देखकर, सतयुग के लोगों को लगता है कि भरत हमारे लिए है। और त्रेता के निवासियों के लिए भी भरतजी का चरित्र सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। इसलिए वे त्रेतायुग के भी आदर्श हैं। और—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति।। २/३२५

—"हृदय में असीम प्रेम लिए वे नित्यप्रति प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं और पादुकाओं से आज्ञा माँगकर अनेक प्रकार के राजकीय कार्य चलाते हैं। यह कर्म द्वापर की परम्परा के लिए प्रेरक है। लेकिन गोस्वामीजी कहते हैं कि सबसे अधिक प्रेरक तो श्री भरत कलियुग के लिए हैं, क्योंकि

हमारे युग की समस्याओं का जो समाधान श्री भरत ने दिया है वह अन्य किसी ने नहीं दिया। गोस्वामीजी का वाक्य बडे महत्व का है। वे सावधान कर देते हैं कि आप लोग इसे किसी पुराने युग की गाथा के रूप में न लीजिएगा। 'कलिकाल' का उल्लेख वे अन्तिम छन्द में करते हैं—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को।।
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।। २/३२६

—इस कठिन कलयुग में मुझ जैसे दुष्ट को भगवान राम के सम्मुख श्री भरत ही ले गए। गोस्वामीजी अपने आपको कहाँ स्थापित करते हैं? यह उनका आत्मविश्लेषण है। कहते हैं, 'तुलसी से सठन्हि'—मैं तो दुष्ट हूँ। तो किसी ने पूछ दिया—तो श्री भरत आपको ले कैसे गये? उन्होंने कहा—और सब लोगों को देखकर तो मुझे साहस नहीं हुआ कि मैं भी श्री राम के सामने जाऊँ। जिनमें ज्ञान-भक्ति की उत्कृष्टता थी, उनके साथ जाने में डर लगा, क्योंकि उनके साथ जाने योग्य कोई भी लक्षण मुझमें नहीं है। श्री भरतजी के साथ जानेवालों में मैंने जब गुरु वशिष्ठ को देखा, बडे-बडे ऋषियों को देखा, योग्य मंत्री और सेनापतियों को देखा, सत्कर्म करनेवालों को देखा, तो मुझे साहस नही हुआ। लेकिन जब देखा कि वे मन्थरा और कैकेयी को भी साथ लेकर चल रहे हैं तो सोचा कि मैं भी चल सकता हूँ।

कैकेयी को साथ ले जाने का क्या तात्पर्य है? सारी समस्याओं की सृष्टि तथा राम को जीवन से दूर करने की चेष्टा जिन्होंने की, रामाज्ञा में गोस्वामीजी ने उन्हें कलि का प्रतीक बताया, 'कलहरूप कलि कैकेयी'। और इसका

अभिप्राय यह है कि कैकेयीजी तब भले ही त्रेतायुग में निवास कर रही हों, पर उस समय वे कलि के समस्त लक्षणों से आक्रान्त थीं। और तब श्री भरत क्या करते हैं? वे सारे समाज को लेकर चित्रकूट जाते हैं और साथ ही साथ कैकेयी को भी ले जाते हैं। इसके पीछे श्री भरत का उद्देश्य क्या है? गुरु वशिष्ठ ने उनसे कहा कि तुम प्रजा की, समाज की सेवा करो। पर उन्होंने गुरु वशिष्ठ के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। बात बड़ी मनोवैज्ञानिक और बुद्धिगम्य है। वर्तमान युग के संदर्भ में हम अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में अनुभव करके देख सकते हैं। आज क्या समाज-सेवकों की कमी है? क्या समाज के समस्याओं का समाधान करनेवालों का अभाव है? इतने सेवक है कि एक कवि ने मुझे एक कविता सुनाई, जिसका भावार्थ यह था, "अब बाग में इतने माली हो गये हैं कि फूलों के लिए जगह ही नहीं बची है।" माली ही माली दिखाई दे रहे हैं, फूल कहीं दिखाई नहीं देते। इतने सेवक होते हुए भी, सेवकों की सख्या निरन्तर बढ़ते जाने पर भी समस्या क्यों बनी हुई है? श्री भरत ने इसी ओर ध्यान आकृष्ट किया। गुरु वशिष्ठ कहते हैं कि सबकी सेवा करो। पर श्री भरत का तात्पर्य यह है कि सेवा करनेवाले की भी कुछ योग्यता और कसौटी होनी चाहिए। सेवा तो बडी उत्तम वस्तु है, लेकिन मान लीजिए कोई संक्रामक रोग से ग्रस्त है, यक्ष्मा का रोगी है और भाषण में सेवा की महिमा सुनकर उनके मन में उत्साह उमड़ पड़े कि वे तो लोगों की सेवा करेंगे, तो इसका परिणाम क्या होगा? उनसे पूछा गया कि क्या सेवा करोगे? बोले, हम प्यासों को जल पिलाएँगे। जल पिलाना, तृप्ति देना एक बहुत बड़ी सेवा है, पर जब तपेदिक का

रोगी कोई व्यक्ति प्यासों को जल पिलाएगा तो प्यासे लोग पानी तो वहाँ पी लेंगे, परन्तु यह क्या सच्चे अर्थों में सेवा है? आपात् दृष्टि से तो लगेगा कि जल पिलाने से प्यासे व्यक्ति की प्यास मिट गई, पर जब वह जल पिलाएगा, तो जल के साथ-साथ वह अपना रोगाणु भी तो पिलाएगा। और तब इसका परिणाम क्या होगा? कुछ दिनों बाद बेचारे जिन लोगों ने उनके हाथ से जल पीया है, वे रोगी हो जाएँगे। यह कर्म तो सेवा के समान दिखाई देते हुए भी सेवा नहीं, कुछ और है। अनर्थकारी है। भरतजी का अभिप्राय यह है कि जो स्वयं रोगी है, सच्चे अर्थों में दूसरों की सेवा नही कर सकता। वे समाज से यही पूछते हैं—आप किससे सुख पाना चाहते हैं, मुझसे? फिर विनम्रतापूर्वक कहा—आप लोग भी अस्वस्थ हैं और मैं भी। श्री भरत ने नाड़ी पकड़कर रोग का निदान कर लिया और देखा कि सब रोगी हो रहे हैं। यहाँ तक कि गुरु वशिष्ठ, जो स्वयं वैद्य हैं, रोगी हो रहे हैं। वैद्य भी कभी कभी रोगी हो जाया करते हैं। भरतजी ने बता दिया कि सारा समाज रोगी हो गया है और यह भी बता दिया कि वह किस रोग से ग्रस्त है। उन्होंने कहा—

तुम्ह चाहत सुखु मोह बस,
मोहि से अधम कें राज॥२।१७८

जब मेरे जैसा अधम राजा राज करेगा तथा आपके समान रोगी प्रजा होगी और जब दोनों मिल जायेंगे तो क्या समाज सुखी और सन्तुष्ट हो सकेगा? उन्होंने कह दिया—आप लोग मोहग्रस्त हैं?

पितु सुरपुर सिया रामु बन,
करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित,
कै आपन बड़ काजु॥२।१७७

"पिता स्वर्ग में हैं, भगवान राम और श्री सीता वन में है, और आप मुझे राज्य करने को कहते हैं। इसमें आप मेरा कल्याण समझते हैं या अपना हित?" भरतजी कहते हैं—मैं समझ गया, इसमें आप लोगों का कोई दोष नहीं है, आप लोग जिस रोग से ग्रस्त हैं, उसका रोगी वही कहता है जो आप कह रहे हैं।

सारे मानसिक रोगों का मूल क्या है?

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥६/१२१/२९

"मोह ही समस्त व्याधियों का मूल है। और उसी मोह से सारे रोग उत्पन्न होते हैं।" श्री भरत ने कहा—आज सारा समाज मोहग्रस्त हो रहा है। अगर आप मोहग्रस्त न होते तो यह कल्पना भी न करते कि श्री राम को लौटाए बिना रामराज्य बन सकता है और बिना रामराज्य बनाये इस समस्या का समाधान हो सकता है। अगर आप लोगों को तथा गुरुदेव को मेरा राज्य स्वीकार कर लेना ही उचित प्रतीत हो रहा हो तो मैं यही समझता हूँ आप सभी मोहग्रस्त हैं। और तब उन्होंने उनकी चिकित्सा की। वे पूरे समाज को लेकर चित्रकूट जाते हैं।

श्री भरत अयोध्या के समस्त नर-नारियों को लेकर चित्रकूट क्यों जाते हैं? यही चिकित्सा है। रामकृष्ण मिशन की परम्परा पर आप ध्यान दें। उसमें आपको यह मूल तत्व मिलेगा। आध्यात्मिक व्यक्तियों के द्वारा सन्तों और तपस्वियों के द्वारा सेवा—इसका अभिप्राय यह है कि जो स्वय स्वस्थ हैं वे समाज को स्वस्थ बनाएँ। इनमें स्वाभाविक रूप से सेवा भाव रहता है, केवल बाह्य प्रदर्शन नहीं। तभी तो अन्तःकरण का अपेक्षित परिवर्तन और निर्माण होगा

श्री भरत के दर्शन में यही दिखाई देगा। वह कहते हैं, पहले चित्रकूट चलिए। अयोध्या के समस्त नर-नारियों को, सभी सम्प्रदाय के लोगों को निमंत्रण देते हैं। श्री भरत के जीवन में आपको वही दृष्टि मिलेगी, जो श्रीरामकृष्ण के जीवन में है। जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने सब धर्मों की साधना की है, उनका अनुभव किया, उसी तरह इस तत्त्व को आप श्री भरत के चरित्र में पाएँगे। भरतजी जब सब लोगों को लेकर चित्रकूट जाते हैं तो कुछ लोगों को वे हाथी पर बिठा देते हैं, कुछ लोगों को घोड़े पर, कुछ को रथ पर, कुछ को पालकी पर और कुछ लोग पैदल ही चलते हैं। संक्षेप में इसका अभिप्राय यह है कि हर व्यक्ति एक समान योग्यता और संस्कार का नहीं होता। चलना तो सबको ईश्वर की ओर है। पहुँचना तो सबको चित्रकूट है। जब तक चित्रकूट नहीं पहुँचेंगे, तब तक रोग दूर नहीं होगा। चित्त के संस्कार से ही रोग उदभूत होता है। चित्रकूट जाने का अर्थ यह है कि अहंकार का त्याग करके मन तथा बुद्धि को साथ लिए चित्त के राज्य में प्रवेश करें और भगवान का साक्षात्कार करें।

चित्रकूट का लक्षण क्या है? जब श्री भरत सारे समाज को लेकर चित्रकूट पहुँचे, तब सारे लोग अन्तः और बाह्य रोगों से ग्रस्त हैं। वे सब चित्रकूट पहुँचकर क्या देखते हैं? गोस्वामी जी कहते हैं—

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।
त्रिविध ताप पीड़ित ग्रह मारी।।
जाइ सुराज सुदेस सुखारी ।
होहिं भरत गति तेहि अनुहारी।।
राम वास बन संपत्ति भ्राजा।
सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा।।

सचिव बिराग बिबेकु नरेसू।
बिपिन सुहावन पावन देसू।।
भट जम नियम सैल रजधानी।
साति सुमति सुचि सुंदर रानी।।२/२३५/३-७

—"अन्न के अभाव में भयभीत और दुखी, त्रिविध तापों से त्रस्त, क्रूर ग्रहों तथा महामारी से पीड़ित प्रजा जैसे किसी उत्तम देश और उत्तम राज्य में जाकर सुखी हो जाती है, श्री भरत चित्रकूट पहुँचकर वैसे ही प्रसन्न हो जाते हैं। और वहाँ श्री राम के निवास से वन की सम्पदा ऐसी सुशोभित हो रही है, जैसे अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी हो जाती है। सुहावना वन ही पवित्र देश है, विवेक उसका राजा और वैराग्य मंत्री है।" ये ही चित्रकूट के लक्षण हैं। सद्‌गुण जहाँ सैनिक हैं और सुमति तथा शान्ति जहाँ की रानियाँ हैं। और यह चित्रकूट का राज्य बना कब? सद्‌गुण के सिपाही जीवन में कब आये?

जीती मोह महिपालु दल,
सहित बिबेक भुवालु।
करत अकटक राजु पुरँ,
सुख संपदा सुकालु।।२/२३५

—"मोहरूपी राजा को सेना सहित जीतकर विवेकरूपी राजा निष्कण्टक राज्य कर रहा है। उसके नगर में सुख, सम्पत्ति और सुकाल है।" यहाँ पर मोह की पराजय हो चुकी है। और—

तुम्ह चाहत सुखु मोहबस।
मोहि से अधम कें राज।।(२/१६८)

श्रीभरत ने अयोध्या के लोगों को दिखा दिया कि जब

तक सारा समाज मोह से ग्रस्त रहेगा तब तक वह जो सेवा करेगा, उस सेवा में कुसेवा मिली ही रहेगी। श्री भरत का अभिप्राय यह है कि इस मोह के विनाश हेतु हमें ईश्वर के सम्मुख होना आवश्यक है।

गुरु वशिष्ठ और श्री भरत के दर्शन में बड़ा अन्तर है। गुरु वशिष्ठ कहते हैं—

रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा।
पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा ।। २/१७४/३

—पिता ने तुम्हें राज्य दिया है, तुम राज्य लेने के बाद अगर तुम इसे नहीं रखना चाहते, तो तुम्हें अधिकार है कि तुम इसे किसी दूसरे को दे सकते हो। अभी तुम राज्य ले लो और चौदह बरस बाद जब राम आएँ, तब उन्हें दे देना। पर श्री भरत ने क्रम को उलट दिया। यहाँ पर वाल्मीकि रामायण में और रामचरितमानस में एक अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में जो बात आती है, वह 'मानस' के परम्परा के अनुकूल तो नहीं है, लेकिन मानवीय स्वभाव के अनुकूल है। वहाँ वर्णन आता है कि भगवान राम जब लंका विजय करके लौटे तो अयोध्या में प्रवेश करने के पूर्व उन्होंने हनुमानजी से कहा—हनुमान, तुम अयोध्या जाओ और भरत को मेरा सन्देश सुना आओ। पर इसके साथ ही भगवान ने एक वाक्य और जोड़ दिया। उन्होंने कहा—पहले तुम यह देख लेना कि भरत राज्य चलाते हुए अगर राज्य के आनन्द में डूबे चुके हों और उन्हें राज्य करने में आनन्द आ रहा हो, तो तुम उनको मेरा सन्देश मत सुनाना, लौट आना। मैं वन में ही रह जाऊँगा। भरत राज्य चलाएँ, मुझे कोई आपत्ति नहीं। भगवान राम ने कहा कि कभी-कभी व्यक्ति पहले तो भोगों से भागता है, पर भोगों के बीच रहते

रहते उसे भोग इतना अच्छा लगने लगता है कि फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है। सत्ता का आकर्षण अत्यन्त प्रबल है। हो सकता है कि भरत को सत्ता के प्रति आकर्षण हो गया हो। ऐसी बात हो तो भरत राज्य चलाएँ, मुझे सत्ता की आवश्यकता नहीं। यह बात मानवीय दृष्टि से तो ठीक लगती है, पर श्री भरत का दर्शन क्या है? रामचरितमानस के राम तो श्री भरत के विषय में यह कल्पना ही नहीं कर सकते। वे तो यह कह देते हैं कि—

भरतहि होइ न राजमदु
बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनी
छीरसिंधु बिनसाइ।। २/२३१

"—श्रीभरत को राज्य तो क्या, ब्रह्मा , विष्णु, महेश का पद पाकर भी मद नहीं हो सकता । काँजी की बूँदों से क्या कभी क्षीरसागर फट सकता है? जिस समय लक्ष्मणजी श्री भरत की आलोचना कर रहे हैं, उस समय भगवान राम कहते हैं लक्ष्मण, सचमुच राजमद ऐसा ही है कि पद पाकर व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है। लेकिन इतना होते हुए भी श्री भरत के विषय में यह कहना ठीक नहीं है। श्री भरत राज्यपद पाकर उन्मत्त नहीं हो सकते। दोनों बातें अपने अपने स्थान पर ठीक हैं। मानवीय दृष्टि से व्यक्ति में ऐसी दुर्बलता आती है कि एक बार राज्य भोग कर लेने के बाद उसे लौटा देने की स्थिति आए, तो हो सकता है कि व्यक्ति उसमें उलझ जाए। लेकिन भरतजी तो इस दुर्बलता से न केवल मुक्त हैं, बल्कि वे इससे भी बहुत उन्नत हैं। वह इस प्रकार कि जैसे कोई पहले कीचड़ लगा ले और फिर उसे धोए। श्री भरत का अभिप्राय यह है कि पहले मैं अपने आप को राज्य का स्वामी

मानूँ और अपने को स्वामी मान कर राज्य दूसरे को दूँ? अगर भोगवृत्ति आ जाए तो मैं राज्य न दूँ, और भोगवृत्ति न आएँ तो राज्य दे दूँ? तो देने के पश्चात् मेरे अन्तःकरण में देने का —दान करने का गर्व होगा या नहीं? क्या मेरे अन्तःकरण में यह वृत्ति नहीं आएगी कि मैंने इतना बड़ा राज्य राम को दे दिया? यदि मैं अभी राज्य ग्रहण करूँ तो ममताग्रस्त होऊँगा और बाद में जब राज्य दूँगा तो अहंताग्रस्त होऊँगा। तो ऐसी परिस्थिति में सबसे अच्छा यह है कि अहंता और ममता, दोनों को प्रभु के चरणों में अर्पित कर दें। और इसीलिए उन्होंने अहंता और ममता को सचमुच चित्रकूट में श्रीराम के चरणों में अर्पित कर दिया। और चित्रकूट से वे क्या लेकर लौटे? वही, जिससे न अहंता रहे और न ममता। भगवान राम ने कह दिया—भरत, तुम्हें तो लौटकर राज्य चलाना है; प्रजा की, समाज की सेवा करनी है। **(क्रमशः)**

प्रार्थना

संसार में पवित्र चिन्तन का एक स्रोत बहा दो। मन ही मन कहो, "संसार में सभी सुखी हों, सभी शान्ति प्राप्त करें, सभी आनन्द पाएँ।" इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—चारों ओर पवित्र चिन्तन की धारा बहा दो। ऐसा जितना करोगे, उतना ही तुम अपने को अच्छा अनुभव करने लगोगे। बाद में देखोगे, 'दूसरे सब लोक स्वस्थ हों, ऐसी भावना ही अपने को सुखी करने का सहज उपाय है।

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (१)

स्वामी तुरीयानन्द

(स्वामीजी के एक गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द ने समय-समय पर अपने वार्तालाप एवं पत्रों के दौरान स्वामीजी के अपने संस्मरणों का वर्णन किया था, जिनका एक संकलन उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता से 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक बँगला ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहित एवं पुनर्संयोजित होकर अनुवादित हुआ है। अनुवादक स्वामी ब्रह्मेशानन्द हैं। जो सम्प्रति वाराणसी के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम में कार्यरत है। —स)

एक बार मैंने स्वामीजी से श्रीरामकृष्ण के बारे में पूछा था। उत्तर में उन्होंने मुझसे कहा, "ठाकुर के बारे में और क्या कहूँ? वे Love Personified (मूर्तिमन्त प्रेम) थे।

स्वामीजी ने अपनी माँ तथा भाइयों के भरण-पोषण की कुछ व्यवस्था करने के लिए श्रीरामकृष्ण से कहा था कि वे माँ काली से इसके लिए अनुरोध करें। इस पर श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया था, "कहता क्या है रे? मैं तो इस तरह की बात माँ से नहीं कह सकता। बहुत अनुनय-विनय करने पर उन्होंने कहा, "जा, तू काली मन्दिर में जाकर प्रार्थना कर, जो चाहेगा वही पाएगा।" यह जानने के लिए कि नरेन क्या माँगता है, अतिशय उत्कण्ठा के साथ वे स्वयं बाहर खड़े रहकर प्रतीक्षा करते रहे। थोड़ी देर बाद स्वामीजी बाहर आये। "क्यों रे, रो क्यों रहा है, माँग लिया न? क्या माँगा बता तो?" रोते हुए वे बोले, "और कुछ तो माँग नहीं सका; कहा, 'माँ, ज्ञान दे, विवेक दे, भक्ति दे'।" यह सुनते ही ठाकुर ने उनको प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध लिया। इस पर वे अत्यन्त आनन्दित हुए थे। बाद में ठाकुर ने हमसे कहा, "देख तो कैसा अधिकारी पुरुष है! और कुछ

भी माँग नहीं सका। भीतर कोई कुटिलता नहीं तो बाहर कहाँ से आयेगी?"

स्वामीजी का हृदय कितना विशाल था! एक बार ठाकुर ने एक व्यक्ति के चरित्र के विषय में अत्यन्त रुष्ट होकर उसके घर आहारादि करने को सबको मना कर दिया था। दूसरों से यह बात सुनकर स्वामीजी एक दिन दो गुरुभाइयों को साथ लिए उस व्यक्ति के घर गये और भरपेट खा आए। फिर दक्षिणेश्वर पहुँचकर सब कुछ स्पष्ट रूप से श्रीरामकृष्ण को बता दिया। ठाकुर तो बड़े नाराज हुए। स्वामीजी खूब रोने लगे। इसके बाद एक दिन वे उस व्यक्ति को ठाकुर के पास ले जाकर उसकी ओर से खूब अनुनय-विनय करने लगे—"ऐसा कर दीजिए कि इसकी उन्नति हो, इसी जीवन में इसको धर्मलाभ हो।" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "नहीं, इस जन्म में नहीं होगा।" स्वामीजी ने पुनः आग्रहपूर्वक कहा, "आप कृपा नहीं करेंगे तो यह कहाँ जायेगा?" ठाकुर ने पुनः कहा, "क्या करूँ, बोल तो रहा हूँ, नहीं होगा।" पुनः अनुरोध, "आप यदि त्याग देंगे तो इसका उद्धार कैसे होगा?" अन्त में ठाकुर ने कहा, "जा, जा, इस समय चला जा।" फिर बोल ही दिया, "जा, मृत्यु के समय मुक्ति हो जाएगी।"

ध्यान धारणा का फल प्रत्यक्ष न होते देख, स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण से शिकायत करते हुए कहा था, "कुछ तो नहीं हो रहा है, क्या करूँ," इत्यादि। उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा; "क्यों रे! मैं तो तुझे कितना महान समझता हूँ। जो पेशेवर किसान् होता है वह अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि की चिन्ता नहीं करता। खेती करना उसका स्वभाव होता है, चाहे फल हो अथवा न हो। निश्चित फल की आशा न हो

तो भी वह खेती छोड़कर और कुछ नहीं कर सकता।"

लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) समय-असमय सो जाया करते थे, इसलिए ठाकुर एक बार बड़े नाराज हुए। उनको वहाँ से निकाल देना चाहते थे। अन्त में स्वामीजी ने बीच में पड़कर सारी समस्या सुलझा दी थी। इसीलिए लाटू महाराज कहा करते थे, "यदि कोई सच्चा गुरुभाई हो, तो विवेकानन्द ही है।" सारदा (स्वामी त्रिगुणातानन्द) के मठ छोड़कर घर जाने को इच्छुक होने पर महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) उन्हें समझा रहे थे, "क्यों जाएगा? नरेन को छोड़कर कहाँ जाएगा? इतना प्रेम और कहाँ मिला है? मैं भी चाहूँ तो घर जाकर रह सकता हूँ। फिर भी मैं यहाँ क्यों पड़ा हुआ हूँ? इसी एक नरेन के प्रेम के कारण।"

परिव्राजक अवस्था में एक बार स्वामीजी ने वृन्दावन में वर्षा से भीगते भीगते एक कुटिया में प्रवेश किया। अत्यधिक वृष्टि के फलस्वरूप चलना असम्भव होने के कारण वे वहीं पर प्रतीक्षा करने लगे। उनका मन उस समय बहुत हताश हो गया था। सम्भवत: उस कुटी में कभी कोई साधु रहा करते थे। स्वामीजी ने सहसा दिवाल पर देखा, वहाँ कोयले से लिखा था—

चाह चमारी चूहरी अति नीचन की नीच।
मैं तो पूरन ब्रह्म था, जो, तू न होती बीच।।

अर्थात् हे कामना तू चमारिन है, मेहतरानी है, तू अधमों से भी अधम है। तू यदि बीच न आ पड़ती, तो मैं पूर्ण ब्रह्म ही था। यह पढकर स्वामीजी को बड़ा आनन्द हुआ था।

हम लोग एक साथ ऋषीकेश में थे। स्वामीजी एक अलग कुटिया में रहते थे। सुबह वे हम लोगों के साथ चाय

पीने आते थे। प्रतिदिन एक उत्तरी साधु वहाँ बैठकर गीता पाठ करते थे। वे विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। पाठ में प्राय: ही त्रुटियाँ होती थीं। उन्हें 'गुड़ाकेशेन' शब्द का बार-बार 'गुड्डाकेशेन' उच्चारण करते सुनकर स्वामीजी ने परम यत्न और विशेष सहानुभूति के साथ उनका सुधार कर दिया। फिर वे हम लोगों से बोले, "तुम लोग प्रतिदिन यह गलत पाठ सुनते हो, और उसे सुधारते नहीं? तुम्हारी साधु के प्रति जरा भी संवेदना नहीं है? अन्त में स्वामीजी ने उनसे कहा, "महाराज आप गीता से सहज ग्रन्थ विष्णुसहस्रनाम का पाठ करें, तो अनायास ही शुद्ध पाठ कर पायेंगे और भगवान के नामोच्चारण का आनन्द भी पाएँगे।"

वे चाहते थे कि हम सभी हर प्रकार से स्वावलम्बी हो जाएँ। इसीलिए वे हमें जूता-सिलाई से लेकर चण्डी-पाठ तक सब कार्यों की शिक्षा देते थे। एक ओर तो वे वेदान्त, उपनिषद, सस्कृत, नाटक इत्यादि पढाते तथा व्याख्या करते और दूसरी ओर भोजन पकाना भी सिखाते। और भी क्या क्या सिखाते थे, वह सब अब क्या कहूँ। मेरठ की एक दिन की घटना सदा के लिए हृदय में अंकित हो गई है। उस दिन स्वामीजी ने पुलाव आदि पकाया था। वह इतना स्वादिष्ट हुआ था कि क्या कहूँ! 'अच्छा हुआ है' हमारे कहने पर उन्होंने सब हमीं लोगों को खिला दिया। स्वय जिह्वा तक नहीं लगायी। हमारे कहने पर बोले, "मैंने यह सब खूब खाया है, तुम लोगों को खिलाकर मुझे बडा सुख हो रहा है। सब खा डालो।" घटना साधारण सी है, किन्तु हृदय के भीतर अंकित पड़ी है। हमारी कितनी जतन करते, कितना स्नेह करते, कितनी कथा-कहानियाँ बनाते, साथ में कितना घूमते–फिरते सब स्मृतिपलट पर जगमग हो रहा है। वहाँ

से स्वामीजी अकेले ही रवाना हुए। यद्यपि दिल्ली में एक बार पुनः मुलाकात हुई थी और साथ ही लगभग एक माह रहना हुआ था, परन्तु इसके बाद वे सीधे आठ वर्ष के पश्चात् ही विश्वविजयी होकर मठ वापस लौटे थे। इस बीच एक बार और बम्बई में महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) और मेरे साथ मात्र कुछ दिन के लिए भेंट हुई थी। अब स्वामीजी प्रभु के पास हैं। उनकी स्मृतियाँ हमारी जीवनसंगिनी बनी हुई हैं। वही हमारा ध्यान-ज्ञान है, वही हमारा जप-तप और कथोपकथन है।

स्वामीजी उस समय बम्बई में एक बैरिस्टर के घर ठहरे थे। मैं और महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) ढूँढते हुए वहाँ पहुँचे। स्वामीजी धूम्रपान कर रहे थे। हमें देखते ही हुक्का हाथ में लिए हमारी ओर अग्रसर हुए। उस समय वे एक श्लोक बोल रहे थे।—

अहंकारं सुरापानं गौरवं, घोर रौरवम्।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा सुखी भव॥ *

श्लोक सुनकर मेरी यह निश्चित धारणा हुई थी कि स्वामीजी उक्त तीनों दोषों से मुक्त हो गये हैं। फिर विभिन्न चर्चाओं के बाद हमारे साथ ही वहाँ से चले आये और बोले, "भाई, धर्मकर्म कितना हुआ इसका तो पता नहीं, किन्तु अब बड़ा Feel (सहानुभूति का अनुभव) करता हूँ, सबके लिए प्राण आकुल क्रन्दन करता है।" स्वामीजी की इस बात से हमें बुद्धदेव का स्मरण हो रहा था। उस समय स्वामीजी का

---

* अहंकार सुरापान के समान है; गर्व भीषण नरक के सदृश कष्टकर है, प्रतिष्ठा को शूकरी-विष्ठा की तरह घृणित समझो और इन तीनों दोषों से मुक्त होकर सुखी हो जाओ।

शरीर काफी स्वस्थ था तथा चेहरा अत्यन्त सुन्दर ज्योतिमय था।

स्वमीजी में सभी प्रकार के लोगों के साथ मिलने-जुलने की अद्‌भुत क्षमता थी। परिव्रज्या के दिनों में एक बार हम दोनों रेल में जा रहे थे। तृतीय श्रेणी के डिब्बे में स्वामीजी घोड़ों के कुछ सईसों के साथ विभिन्न प्रकार की चर्चा में निमग्न हो गये। मैंने पूछा, "क्या बातचीत हो रही थी?" बोले, "वे लोग बहुत सी बातें जानते हैं। घुड़दौड़ के घोड़ों की किस तरह से देखभाल करनी पड़ती है, किन नियमों के अंतर्गत उनका व्यायाम, मालिश आदि की जाती है, घोड़ों का वेग बढ़ाने के लिए कैसा आहार दिया जाता है, आदि सब बातें मैंने सुन ली। खूब आनन्द आया। सभी के पास सीखने योग्य कुछ रहता है।"

और एक बार कलकत्ता में एक व्यक्ति के घर हम दोनों गये थे। मेज पर ईश्वरचन्द विद्यासागर महाशय के 'बालबोध' का प्रथम भाग पड़ा था। बहुत देर तक स्वामीजी उसे उलट-पुलट कर देखते रहे। बोले, "बहुत आत्मीयता के साथ शिशु के मन के साथ घनिष्ठ एकात्मता का अनुभव करके उसे क्रम से भाषा सिखाने की यह अति सुन्दर प्रणाली है। यह विद्यासागर महाशय जैसे प्रवीण शिक्षक के अनुरूप है। इसमें भाषा के शिक्षार्थियों के ज्ञान के विभिन्न स्तरों के अनुसार वर्ण तथा वाक्यविन्यास को ठीक ठीक प्रस्तुत किया गया है।"

जब स्वामीजी पहली बार अमेरिका जा रहे थे, मैं बम्बई के रास्ते कुछ दूर उनके साथ गया था। रेल में जाते जाते उन्होंने गम्भीर होकर मुझे कहा, "अमेरिका में जो सारी तैयारी हो रही है, और जो कुछ सुनने में आ रहा है, वह

सब इसके (अपने शरीर को दिखाकर) लिए हैं। मेरा मन मुझसे ऐसा कह रहा हैं; शीघ्र ही देख सकोगे।"

स्वामीजी ने एक बार स्पर्श के द्वारा किडी के मन में ईश्वर के प्रति विश्वास का संचार कर दिया था। किडी बड़ा नास्तिक था। कभी कभी स्वामीजी में महान शक्ति का प्रदुर्भाव होता था। तब वे किसी को स्पर्शमात्र से उसके भीतर धर्मभाव प्रविष्ट करा देते थे।

स्वामीजी सचमुच ही दूसरों की सहायता करने में समर्थ थे। उनके पास ऐसी कोई गोपनीय वस्तु नहीं थी, जिसे वे अन्य किसी को न दे पाते। हम लोगों के साथ यही तो कठिनाई है। यही भय लगा रहता है कि कोई हमसे बड़ा न हो जाए। किन्तु स्वामीजी इतने महान थे कि उन्हें यह भय नहीं था। उनमें ईर्ष्या नहीं थी। वे कहते थे, "जो जहाँ है, उसे वहीं से सहायता करो। जिसकी जो अपूर्णता हो, उसे दूर कर दो। यदि यह न कर सको, तो बलपूर्वक उसे अपने समान बनाने का प्रयत्न मत करो।"

उनमें अद्‌भुत शक्ति थी। अनेक लोगों को उन्होंने प्रभावित किया था। लेकिन बहुत कम लोग ही इस बात को स्वीकार करते हैं। बहुत से लोग स्वामीजी के विचारों को ही अपने विचारों के रूप में प्रचारित करते हैं।

स्वामीजी अमेरिका से लौट आए थे। उन्हें देखने के लिए बड़ी भीड़ एकत्र थी। G.C. (गिरीश बाबू) को उन्होंने अपने पाँव छूकर प्रणाम करने नहीं दिया। बोले, "उससे मेरा अमगल होगा।" स्नेहपूर्वक उन्होंने मास्टर महाशय की दाढ़ी पकड़कर हिला दी।

स्वामीजी ने बारम्बार कहा था, "ऐसे अनेक विचार दे जा रहा हूँ, जिनसे आगामी दो सौ वर्षों तक और किसी को

कुछ करना न होगा, केवल उन पर अँगुली फिराने से ही काम चल जाएगा।"

स्वामीजी धूम्रपान आदि करते थे, इस कारण हम लोगों में से ही किसी ने एक बार स्वामीजी से कहा था, "देखो, तुम्हारी आदतों को सुधारना आवश्यक है। अन्यथा तुम्हारे लिए मुझे अनेक लोगों के सामने जवाब देना पड़ता है।" उसने सोचा था कि इस बात से सम्भवतः स्वामीजी बहुत प्रसन्न होंगे तथा उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करेंगे। किन्तु उन्होंने अतिशय शान्त स्वर में उत्तर दिया, "तू अपना काम कर। मुझे Defend (बचाव) करने की तुझे कोई आवश्यकता नहीं है।" स्वामीजी कितने बलवान थे! सर्वदा अपने स्वयं के पैरों पर खड़े रहते थे। किसी का सहारा लेना या किसी के Recommendation (संस्तुति) पर अपने को निर्भर रखना उनका स्वभाव नहीं था।

एक बार किसी स्टेशन पर जब स्टेशन मास्टर ने कुछ अंग्रेज यात्रियों के लिए जगह बनाने को द्वितीय श्रेणी के डिब्बे से स्वामीजी को उतारने का प्रयत्न किया, तब स्वामीजी ने उससे कहा था, "मुझे उतरने को कहते तुम्हें शर्म नहीं आती? उन्हीं लोगों को उतार दो।" बेचारा स्टेशन मास्टर डाँट पीकर वहाँ से चले जाने को बाध्य हुआ।

एक बार कलकत्ता में प्लेग का तीव्र प्रकोप हुआ था। स्वामीजी मठ की भूमि तथा मकान बेचकर रोगियों की सेवा के लिए अर्थ प्राप्त करने को तैयार हुए और इसके लिए विज्ञापनादि भी दिया गया था। स्वामीजी ने कहा था "हम तो संन्यासी हैं, हम पेड़ों के नीचे रहने के अभ्यस्त है यदि आवश्यक हुआ तो पेड़ों के नीचे ही रहेंगे।"

स्वामीजी बडे रसिक थे। एक दिन एक छुरी मे काम करते करते मुझसे उसका अग्र भाग टूट गया। टूट जाने के कारण मैं उदास मन से बैठा था। सुनकर स्वामीजी ने कहा, "वह तो उसी तरह नष्ट होगी। उसको हैजा, वात-पित्त आदि रोग नहीं होंगे।" उनकी बात सुनकर मैं हँस पडा। कैसी सुन्दर बात उन्होंने कही!

अमेरिका में एक स्त्री को स्वामीजी ने देखा तो वह उन्हें बहुत सुन्दरी प्रतीत हुई। किसी खराब भाव मे नहीं, यों ही; पुन एक बार देखने की इच्छा हुई। उस बार देखा—कहाँ सुन्दरी! एक बन्दरी का मुख दिखाई दिया। और एक बार उन्होंने कहा था कि उन्होंने स्वप्न में भी कभी किसी स्त्री को नहीं देखा। किन्तु एक दिन स्वप्न में घूँघट ओढे एक स्त्री को देखा। वह बड़ी सुन्दरी प्रतीत हुई। वे उसका घूँघट हटाकर देखने गये। ज्योंही घूँघट उठाया, त्योंही देखा कि ठाकुर हैं। स्वामीजी लज्जा से गड गये।

निवेदन...

मणिमय गुप्त, नागपुर

मम अँधियारे अन्तर में
जागो हे प्रभु ज्योतिर्मय।
करुणा-प्रकाश किरणों से
मम पाप-ताप कर दो क्षय।।
हे सारे जग के स्वामी
हर लो अज्ञान तमस को।
हो उदय सूर्य सम उज्जवल
आलोकित करो जगत् को।।

श्रीचैतन्य महाप्रभु (१९)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक ने काफी शोध करके प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर श्री चैतन्य महाप्रभु की एक विस्तृत जीवनी लिखी थी। बँगला भाषा में यह पुस्तक अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है और धीरे-धीरे काफी लोकप्रिय भी हुई है। उसी 'श्रीश्रीचैन्यदेव' ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।—स.)

कटक से निकलकर, महनदी पार होकर पथ चलते-चलते चैतन्यदेव क्रमशः याजपुर जा पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने मंगलराज और हरिचन्दन को विदा किया तथा रेमुना में आकर रामानन्द को भी लौट जाने को कहा। रामानन्द की उनकी संग छोड़ने की इच्छा न थी, परन्तु उनके बारम्बार अनुरोध पर आखिरकार उन्हें विदा लेनी ही पड़ी। विदा लेते समय चैतन्यदेव के चरणों में प्रणत होकर उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से प्रार्थना की, "शीघ्र ही पुनः दर्शन मिले।"

क्रमशः वे लोग उड़ीसा की सीमा तक आ पहुँचे। वहाँ के अधिकारी उनकी चरणवन्दना करने के पश्चात् उन्हें पूर्वनिर्दिष्ट निवासस्थान पर ले गये और सभी प्रकार की सुव्यवस्था करके कुछ दिन प्रतीक्षा करने को कहा। उन्होंने बताया निकट बहती नदी के पार मुसलमान शासक का अधिकार है। अतः उधर जाने में थोड़ी विपत्ति की सम्भावना है। परन्तु कुछ दिनों के भीतर ही उस पक्ष के साथ वार्तालाप करके सुव्यवस्था कर ली जाएगी। भक्तिमान राजकर्मचारी के आग्रह पर उसी जगह कई दिन रहकर इन्तजार करना निश्चित हुआ। उन्हें अपने बीच

पाकर स्थानीय लोग बड़े आनन्दित हुए और अपने संगियों के साथ चैतन्यदेव भी उन लोगों के संग भगवच्चर्चा और भजन-कीर्तन में दिव्य आनन्द का बोध करने लगे। उनके आने का संवाद चारों ओर विद्युत-वेग से प्रचारित हो जाने के कारण लोग वहाँ दल के दल पहुँचने लगे और वहाँ नित्य-महोत्सव आरम्भ हो गया।

विपक्षी मुसलमान शासक का एक हिन्दू गुप्तचर उन दिनों वहीं निवास करता था। इस गुप्तचर के माध्यम से उसके अधिकारी को भी इस अद्भुत संन्यासी के आगमन और उनके अलौकिक भाव-भक्ति के बारे में सूचना मिली। मुसलमान होकर भी उन राजकर्मचारी के अन्तर में हिन्दू धर्म तथा साधु-संन्यासियों के प्रति श्रद्धा थी और वे स्वयं भी ईश्वरप्रेमी थे। चैतन्यदेव के आने का समाचार पाकर वे उन्हें देखने को इतने उत्सुक हो उठे कि उन्होंने उडीसा के राजप्रतिनिधि के पास दूत भेजकर अपनी अभिलाषा व्यक्त की। उड़ीसा के राजप्रतिनिधि ने चैतन्य महाप्रभु के साथ इस विषय में परामर्श करने के बाद दूत से कह दिया, "यदि वे निरस्त्र होकर केवल पाँच-सात अनुचरों के साथ आवें, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।" उनके निर्देशानुसार निर्दिष्ट समय पर उन धर्मप्राण मुसलमान के चैतन्यदेव से मिलने आने पर उन्होंने भी यथोचित सम्मानपूर्वक उन्हें बैठाया। दोनों के बीच काफी समय तक धर्म तथा भगवत्तत्त्व के विषय में चर्चा होती रही। चैतन्यदेव के मुख से उदार भाव तथा धर्म के जटिल तत्त्वों की सहज सरल मीमासा सुनकर उनका मन अति प्रसन्न हुआ। फिर संकीर्तन में भगवत्प्रेम की उच्च अभिव्यक्ति देखकर वे बड़े ही

विस्मित हुए और भक्तिपूर्वक बारम्बार अभिवादन करते हुए उन्होंने अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की। दोनों पक्षों के बीच काफ़ी घनिष्ठता हो गयी। विदा करते समय उड़ीसा के राजप्रतिनिधि ने उन्हें मित्र कहकर सम्बोधित करते हुए उनका आलिंगन किया और उनके साथ तरह तरह के मूल्यवान उपहार भी भिजवा दिये। बातचीत के दौरान जब उन्होंने चैतन्यदेव के बंगाल जाने की इच्छा और बाधा की बात सुनी, तो वे कह गये कि वे स्वयं ही अपनी सेना के साथ नाव में यात्रियों को पार करा देंगे और इस विषय में चिन्ता की आवश्यकता नहीं।

यथा समय उनके द्वारा भेजी गयी नाव आ पहुँची। चैतन्यदेव भगवन्नाम लेते हुए अपने सगियों के साथ उसमें सवार हुए और उन भक्त मुसलमान ने स्वयं ही दस नावों में सेना लेकर साथ-साथ चलते हुए मन्त्रेश्वर नद का दुर्गम और भयावह इलाका पर करा दिया।

चैतन्यदेव की इच्छा को शिरोधार्य कर 'दयाल निताई' उन दिनों पूरे बंगाल में आचाण्डाल सबमें भगवद्‌भक्ति और हरिनाम का वितरण करते हुए सर्वत्र धर्म का एक प्रबल स्रोत प्रवाहित कर रहे थे। बगाल तब वास्तव में ही स्वर्ण का बंगाल था – ऐश्वर्य का भण्डर था। परन्तु ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों की कट्टरता के फलस्वरूप तब बंगाल का वैश्यवर्ग शूद्र से भी अधम परिगणित होता था। इस समाज में एकता का अभाव था, विद्या और सस्कृति के साथ ऐश्वर्य का मेल न था। स्वर्णवणिक के रूप में परिचित वैश्यगण आचार-व्यवहार में हर प्रकार से उन्नत होकर भी समाज में परित्यक्त माने जाते थे। श्रीमत् नित्यानन्द बगाल

में धर्मप्रचार करते समय इसके प्रतिकार हेतु क्रमशः इस संकीर्णता की सीमा को तोड़ने लगे। उन दिनों सप्तग्राम बंगाल का सर्वश्रेष्ठ बन्दरगाह था और अतुल ऐश्वर्य के अधिकारी अनेक स्वर्णवणिक सप्तग्राम के निवासी थे। निताई उन लोगों के घर में रहकर अपने प्रेम के धर्म का प्रचार करते थे। उद्धारण दत्त नामक एक स्वर्णवणिक-कुलतिलक पर उनकी विशेष कृपा हुई थी। उस अंचल में भ्रमण करते समय अवधूतश्रेष्ठ अपना अधिकाश समय इन्हीं के घर बिताते थे। एक बार एक पुरातनपन्थी व्यक्ति ने उनसे पूछा कि वे उद्धारण के घर में भोजन क्यों करते हैं, तो इस पर अवधूत ने उत्तर दिया, "कभी उद्धारण पकाता है तो नित्यानन्द खाता है और कभी नित्यानन्द पकाता है तो उद्धारण खाता है।" उनका यह वाक्य एक कहावत के रूप में प्रचलित है क्योंकि तत्कालीन समाज की दृष्टि से यह एक बड़ा ही विस्मयजनक कार्य था।

नित्यानन्द की प्रेरणा से सप्तग्राम के श्रेष्ठिकुलों और विशेषकर स्वर्णवणिकों में धर्मबुद्धि का संचार हुआ। उनकी कृपा से इन लोगों की अगाध सम्पदा का सत्कर्मों में उपयोग होने लगा। निताई की प्रेरणा से वे लोग भगवद्भक्तिपरायण होकर अपना धन भगवान की पूजा-अर्चना, साधु-भक्तों की सेवा तथा दीन-दरिद्रों के दुखःमोचन में नियोजित करने लगे। देश में अनेक मन्दिरों, देवालयों, मठों, अखाड़ों की स्थापना हुई; सर्वत्र संकीर्तन, महोत्सव, 'दीयतां नीयतां भुज्ययताम्' का रव गूँजने लगा। इस प्रकार सप्तग्राम को केन्द्र बनाकर नित्यानन्द यथेच्छा भ्रमण करते हुए धर्मप्रचार में लगे हुए थे।

नवद्वीप के लोगों को खबर मिल चुकी थी कि संन्यासी निमाई वहाँ आ रहे हैं और वे लोग उनका दर्शन करने को अतीव उत्कण्ठित होकर प्रतीक्षा कर रहे थे। अद्वैताचार्य,श्रीवास आदि भक्तगण भी अधीर होकर उनकी बाट जोह रहे थे और प्रभुपाद नित्यानन्द का तो कहना ही क्या? कहते हैं कि चैतन्यदेव अपने संगियों के साथ उड़ीसा से ही पूरा मार्ग नाव में तय करके पानीहाटी तक आये थे। देश में फैली आन्तरिक अव्यवस्था के कारण ही सम्भवतः उन लोगों ने जलमार्ग अपनाया होगा। बंगाल में आकर नित्यानन्द और भक्तों के साथ उनका मिलन होने के बाद पूर्ववत् ही नृत्य, गीत, कीर्तन, उत्सव और आनन्द का स्रोत प्रवाहित होने लगा। विशिष्ट भक्तों के घर पधारकर वे उन्हें कृतार्थ करने लगे। वे जिधर भी निकल जाते, उधर ही अथाह भीड़ एकत्र हो जाती। उन्हें देखने के लिए तथा उनके श्रीमुख की अमृतवाणी सुनने के लिए लोग दूर-दूर से आ जुटते। उस काल का वर्णन पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो चैतन्य-पूर्णचन्द्र के उदय से विशाल बंग-समुद्र आनन्द से उद्वेलित हो उठा था।

श्रीवास पण्डित तब कुमारहट्ट ग्राम में निवास कर रहे थे। चैतन्यदेव उनके घर जा पहुँचे। श्रीवास गृहस्थ होकर भी संन्यासी के समान थे। संचय का तो उनके पास नाम तक न था और फिर धनोपार्जन का भी वे प्रयास नहीं करते थे। चैतन्यदेव ने श्रीवास के घर की निर्धनता देखकर उन्हें कमाने का प्रयास करने को कहा। श्रीवास ने उनकी बात सुनकर हँसते-हँसते 'एक, दो, तीन' कहकर तीन बार ताली बजायी। श्रीवास के इस आचरण का तात्पर्य न समझ पाकर

चैतन्यदेव ने उनसे इस ताली बजाने का अर्थ पूछा। श्रीवास ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "एक, दो, तीन, उपवास के बाद भी यदि अन्न न जुटे, तो फिर गंगा का जल है ही! उसी में प्रवेश करूँगा; परन्तु भगवान के चरणकमल छोड़कर धन का चिन्तन नहीं कर सकूँगा। इसीलिए मुझे कोई चिन्ता नहीं है।" उनके असाधारण त्याग, तितीक्षा और निर्भरता की बात सुनकर चैतन्यदेव का चित्त अतीव प्रसन्न हुआ। वे उन्हें अभय देते हुए बोले, "ऐसे भक्त का भार भगवान स्वयं ही वहन करते हैं।"

कुमारहट्ट[१] श्रीपाद ईश्वरपुरी का जन्मस्थान है। चैतन्यदेव ने अपने गुरुदेव के जन्मस्थान को पवित्र तीर्थ मानकर अतीव दीनता और भक्तिभाव के साथ वहाँ की थोड़ी सी मिट्टी सँजोकर रख ली। यहाँ एक अन्य तथ्य की ओर चैतन्यदेव का ध्यान आकृष्ट हुआ था। भगवानाचार्य नाम के एक भक्त, अपनी युवा पत्नी को ससुराल में छोड़कर, उसके रहने-खाने की कोई सुव्यवस्था किये बिना ही पुरी में जाकर निवास करने लगे थे और वहाँ चैतन्यदेव का संगलाभ तथा भगवद्भजन का प्रयास करते थे। श्रीवास के घर में निवास करते समय उस युवती के दुःख-कष्ट की बात सुनकर महाप्रभु अत्यन्त दुःखी हुए और परवर्ती काल में पुरी लौटने के बाद उन्होंने इस गर्हित कार्य के लिए उन भक्त की बड़ी भर्त्सना की और वापस घर भेज दिया।

कुमारहट्ट से चलकर चैतन्यदेव काँचरापाड़ा में स्थित शिवानन्द सेन के घर आ पहुँचे। सपरिवार शिवानन्द उनके

---

१. वर्तमान चौबीस परगना, जिले का हालीशहर ही तत्कालीन कुमार हट्ट हैं।

आगमन की प्रतीक्षा में अत्यन्त आतुर थे। इतने दिनों बाद उनके अन्तर की आशा पूर्ण होने के फलस्वरूप उनके प्राणों में असीम आनन्द का संचार हुआ। पूरे हृदय के साथ उनकी सेवा करके शिवानन्द ने अपना धन-जन और मानवजीवन सार्थक कर लिया। शिवानन्द के गृह में एक रात निवास करने के पश्चात् चैतन्यदेव ने अपने प्रिय संगी सुगायक मुकुन्द दत्त के ज्येष्ठ भ्राता, जिन्होंने ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों का पापभार स्वयं ग्रहण करके उनके मुक्ति की प्रार्थना की थी, उन्हीं महात्मा वासुदेव दत्त के ऊपर कृपा करने को उनके घर में पदार्पण किया। तदुपरान्त वे वहाँ से सार्वभौम के भ्राता विद्यावाचस्पति महाशय के गृह में जाकर उनसे मिले। बंगाल में उनके आते ही, वे जहाँ भी जाते दर्शनार्थियों की भीड़ जम जाती थी और दिन पर दिन उस भीड़ के बढ़ते जाने से अब ऐसी हालत हो गयी थी कि वाचस्पति के परिवार के लोगों के लिए घर में रह पाना कठिन हो गया। हालत की गम्भीरता को समझकर भक्तगण चैतन्यदेव को गोपनीयतापूर्वक कुलिया ग्राम के माधवदास नाम के एक सम्पन्न भक्त के सुविशाल भवन में ले गये। इधर समवेत लोग चैतन्यदेव का दर्शन न पाकर अति उद्विग्न हो उठे और यह सोचकर कि वे वाचस्पति के घर में है, बहुत से लोग उनके घर के भीतर प्रविष्ट होने का प्रयास करने लगे। बाद में जब यह सुनने में आया कि वे कुलिया में माधवदास के घर गये हैं, तो सारा जनप्रवाह उधर ही दौड़ पड़ा।

माधवदास के सुविस्तृत आंगन में बहुत से लोगों के समक्ष भक्तों के साथ चैतन्यदेव परम आनन्दपूर्वक नृत्य, गीत

और संकीर्तन करने लगे। सहस्त्रों लोगों के आगमन से वहाँ भी एक महामेला का दृश्य उपस्थित हो गया। कुलिया का आकर्षण अवर्णनीय है। चैतन्यदेव ने वहाँ पर सात दिन रहकर त्रितापदग्ध जीवों के प्राणों में शान्ति के शीतल जल का सिंचन किया। उनकी अमृतवाणी सुनकर लोगों के कान तृप्त हुए, मनोहर रूप का दर्शनकर नयन सार्थक हुए और उनका मधुर कीर्तन, नृत्य, गीत तथा अपूर्व भावावेश देखकर मन मुग्ध हुआ। गंगा के इस पार स्थित कुलिया ग्राम नवद्वीप से दीख पड़ता था। नवद्वीप के सभी लोगों ने कुलिया जाकर उनका दर्शन किया; यहाँ तक कि जो उनके घोर विरोधी थे, वे लोग भी आकर उनके दर्शन और उन्हें प्रणाम करके, आशीर्वाद लेकर लौटे। संन्यासी की शान्त-सौम्य और प्रेममय मूर्ति देखकर नास्तिकों तक का हृदय पिघल गया, शत्रु-मित्र में और पाखण्डी भक्त में रूपान्तरित हुए। कहते हैं कि कुलिया में बाल-वृद्ध तथा नर-नारियों की ऐसी भीड़ होती थी कि उन्हें नियन्त्रित करने के लिए रात को माधवदास बहुत से लोगों को साथ लेकर बड़े-बड़े बाँस काटकर दुर्ग बाँधते थे। परन्तु जनसमुदाय को रोकने की शक्ति किसी में नहीं थी और प्रातःकाल होते ही बाँस का गढ़ चूर्ण-विचूर्ण हो जाता था।[२]

चैतनयदेव के आगमन का संवाद शचीदेवी और विष्णुप्रिया के भी कानों में पहुँचा। वे भी जब एक दिन गंगास्नान करने को गयीं, तो वहाँ पार जाने के लिए बहुत से लोगों की भीड़ और उस पार कुलिया में हो-हल्ला और

२ चैतन्य भागवत

उथल-पुथल देखकर विस्मित रह गयीं। उन्हें यह समझने में देर न लगी कि सन्यासी का दर्शन करने के लिए ही यह सारी उत्तेजना फैली हुई है। पुत्र का मुख देखने की आशा में वृद्धा का हृदय आनन्द से उच्छ्वसित हो उठा और वे भावविभोर हो गयीं। विष्णुप्रिया के अन्तर की अवस्था भी कुछ अलग न थी, तथापि किसी प्रकार उन्होंने अपने को सँभाला और अपनी स्तम्भित वृद्धा सास को लेकर शीघ्रतापूर्वक घर लौट आयीं। लोगों के मुख से सन्यासी की अलौकिक कहानी, महासंकीर्तन, नृत्यगीत, भावावेश तथा लाखों लोगों के समावेश की बात सुनकर वे भावविह्वल होने लगीं। वे इतने समीप—गंगा के उस पार ही थे, तो भी वहाँ जाने का कोई उपाय नहीं था। वे यदि स्वयं ही न बुला भेजें तो ये जातीं भी कैसे? यह दुःख जब असह्य सा हो उठा था, तभी संवाद आ पहुँचा कि अगले दिन प्रातःकाल सन्यासी अपनी जननी तथा जन्मभूमि का दर्शन करने को आ रहे हैं। आनन्द के अतिरेक में उस रात शची और विष्णुप्रिया को नींद नहीं आयी। उस शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते और उन्हीं को लेकर तरह-तरह के ख्याली-पुलाव पकाते सारी रात बीत गयी।

नवद्वीप में आकर संन्यासी-शिरोमणि ने शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी नामक एक भक्त के घर रात्रिवास किया और प्रभातकाल में गंगास्नान करके जननी-जन्मभूमि का दर्शन करने को मिश्र-भवन के द्वार पर आ खड़े हुए।

सगे-सम्बन्धियों तथा पड़ोसियों ने, क्या क्या कहेंगे और क्या क्या करेंगे—ऐसा बहुत कुछ सोच रखा था, परन्तु ब्रह्मज्योति से उद्भासित उस मुखमण्डल को देखकर किसी के भी मुँह से वाणी ही नहीं निकली। स्वाभाविक रूप से ही सबके हृदय में श्रद्धा का उदय होने से सबके सिर झुक गये। यह मूर्ति तो निमाई पण्डित की नहीं है, त्रितापदग्ध जीवों के हृदय को सुशीतल करने के लिये यह तो मानो कोई दिव्यधाम से आविर्भूत हुआ है। इधर-उधर दृष्टि फेरते हुए यतिराज ने अपनी उस स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि, सैकड़ों स्मृतियों से जुड़े निवास-भवन तथा घर की चीजों का निरीक्षण किया। जिन चीजों को देखकर प्रवासी का चित्त चञ्चल हो उठता है, उन चीजों को अपने आसपास देखकर भी ब्रह्मविद्वरिष्ठ श्रीकृष्णचैतन्य भारती के चित्त में बिन्दुमात्र भी तरंग का उदय नहीं हुआ। उनके प्रशान्त निर्विकार चित्त में पल भर के लिए भी इन सबके प्रति 'ममत्व' बोध का उदय नहीं हुआ। शरत्कालीन निर्मल आकाश के समान उनके प्रशस्त उन्नत और उज्जवल ललाट पर चिन्ता रूपी मेघ का नामोनिशान तक नहीं दीख पड़ा। चारों ओर विस्मय-विमुग्ध असंख्य लोग और उनके बीच में प्रशान्तचित्त संन्यासी खड़े थे। अचानक ही एक परदानसीन महिला ने आकर उनके चरणों में दण्डवत प्रणाम किया। अत्यन्त दीनहीन वेष, निराभूषण, क्षीण अंगोवाली, पूर्णरूप से वस्त्रों में ढँकी नारीमूर्ति को देखकर संन्यासी पीछे हट गये— पहचान न सके। भला पहचानते भी तो कैसे! शुक्ल

चतुर्दशी की जिस पूर्ण चन्द्रकला की सुषमा मे एक दिन मिश्र-भवन आलोकित हुआ था, आज कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के समय आकाश के कोने में छिपी उसी चन्द्रकला को ज्योतिरेखा मात्र के रूप में झाँकते देखकर, उसे न पहचान पाना ही तो स्वाभाविक था! तदुपरान्त परिचय पाकर संन्यासी ने गम्भीर पर स्नेहपूर्ण वाणी में कहा, "तुम्हारा नाम विष्णुप्रिया है, मिथ्या शोक को प्रश्रय न देकर अपना यह नाम सार्थक करो। बाकी समस्त विचारों को त्यागकर अपना देह मन श्रीकृष्ण को समर्पित कर दो।"[३]

भावसंवरण करके देवी उठ खड़ी हुई। उनका मुखमण्डल लम्बे घूँघट से ढँका था। संन्यासी के चरणों में दृष्टि को स्थिर किए हाथ जोड़े विनयपूर्वक सिर झुकाए वे देवी खड़ी रहीं। ऐसा लगता था मानो मन्दिर के द्वार पर कोई ध्यानमग्न पुजारिन अथवा किसी राज-राजेश्वर के सम्मुख कोई निर्धन भिखारिन खड़ी हो। चैतन्यदेव ने कहा, "मैं एक सम्बलहीन संन्यासी हूँ, देने योग्य मेरे पास कुछ है नहीं! जो भी है, दे रहा हूँ, स्वीकार करो।" इस स्नेहपूर्ण वाक्य के पश्चात् उन्होंने अपने चरण कमलों मे काष्ठ-पादुकाएँ निकाल दीं। आज देवी की कठोर तपस्या— सुदीर्घ व्रत का समापन हुआ। जननी विष्णुप्रिया धैर्य और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति थीं! अपने सुखभोग की आशा में आकुल होकर रोना-गाना अथवा पतिदेव के प्रति किसी भी

---

३. चैतन्यमगल

प्रकार के शिकायत का भाव आदि के लिए उनके अन्तर में बिल्कुल भी स्थान न था। वे उनकी धर्मपत्नी थीं, चिरकाल के लिए उनके धर्मपथ की सहायिका थीं। संन्यासी की सहधर्मिणी होने के नाते आजीवन संन्यासिनी का जीवन बिताना स्वाभाविक रूप से ही उनका व्रत हो जाता था। आज उनके इस कठोर पातिव्रत्य साधना को सिद्धि प्राप्त हुई। देवी ने अपने करद्वय फैलाकर अपनी चिर आकांक्षित वस्तु को ग्रहण कर मस्तक से स्पर्श करने के बाद हृदय से लगा लिया। उनके प्रेमाश्रुओं से पादुकाओं का अभिषेक हुआ। अपने आराध्य देवता से आज उन्हें सब कुछ मिल चुका था। आनन्द से देवी का हृदय परिपूर्ण हो उठा। फिर गृहदेवता को प्रणामकर अतीव धीरता व मृदुता के साथ अपनी माता की चरणवन्दना करने के पश्चात् वे शीघ्रतापूर्वक विदा हुए। देवी विष्णुप्रिया ने उन परमाराध्य पादुकाओं की वेदी पर स्थापना की और अतीव भक्ति-निष्ठा के साथ आजीवन उनकी अर्चना करती रहीं।

महाप्रभु के शुक्लाम्बर के घर में निवास, जन्मस्थान का दर्शन और विष्णुप्रिया के साक्षात्कार का विवरण 'चैतन्यचरितामृत'कार ने लिपिबद्ध नहीं किया है। परन्तु अन्य प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में उनका उल्लेख होने के कारण हमने यहाँ संक्षेप में उनका वर्णन किया है। 'चरितामृत'कार ने चैतन्यदेव के संन्यास के बाद विष्णुप्रिया देवी का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं किया है। वस्तुतः उनके संन्यासी-जीवन के साथ पत्नी का सम्पर्क विच्छिन्न हो जाने

के बावजूद उनके प्रचारित धर्म के साथ विष्णुप्रिया का जीवन अविच्छेद्य रूप से जड़ित है। देवी उनकी प्रमुख शिष्या थीं और शिष्या होने के पश्चात् उन्होंने जो अद्भुत और अलौकिक त्याग-तपस्यामय जीवन बिताया था, वह गौड़ीय वैष्णव धर्म के मूल उत्सों में से एक है। चैतन्यदेव के तिरोभाव के उपरान्त विष्णुप्रिया देवी ही उनके पार्षद भक्तों के लिए आश्रय और आदर्श हुईं। लोकदृष्टि से परे रहकर भी उनकी करुणाकणिका पाकर बहुत से लोगों का जीवन धन्य हो गया था। परवर्ती वैष्णव ग्रन्थों में उनके अलौकिक जीवन की विस्तृत कथा लिपिबद्ध है। इतना ही नहीं, जननी विष्णुप्रिया ने उन श्रीनिवास ठाकुर महाशय में भी शक्तिसंचार किया था, जिन्होंने चैतन्यदेव के तिरोभाव के पश्चात् उनके धर्मभाव का सर्वत्र प्रचार किया और इस प्रकार लोगों की दृष्टि में महाप्रभु की ही महिमा को विशेष अभिव्यक्ति के रूप में सुपरिचित हुए थे। श्रीनिवास ठाकुर पर देवी की कृपा का प्रसंग 'प्रेमविलास' ग्रन्थ में विशेष रूप से वर्णित हुआ है। अल्प वय के श्रीनिवास परम भक्त थे। परन्तु किसी कारणवश उनके हृदय को भयानक आघात लगा और इससे उनके जीवन में अतीव हताशा का भाव उदय हुआ था। तब विष्णुप्रिया देवी ने उन पर अहेतुक कृपा की और आश्रय प्रदान किया। इस प्रसंग में उपरोक्त ग्रंथ में लिखा है, "इतना कहकर देवी ने श्रीनिवास को बुलाकर अपने वस्त्रावेष्ठित चरण उनके सिर पर रख दिये। तदुपरान्त वे

बोलीं, 'बेटा, तुम बड़े भाग्यवान हो, निःसन्देह तुममें चैतन्यशक्ति विद्यमान है। अब तुम शान्तिपुर होते हुए खड़दह जाओ। वहाँ आचार्य गोस्वामी को देखते ही तुम उन्हें पहचान लोगे। खड़दह में जाकर तुम नित्यानन्द का दर्शन करो। वे तुम्हें देखकर बड़े प्रसन्न होंगे। पुत्र, अब और विलम्ब न कर शीघ्रता करो। वहाँ तुम्हें रूप-माधुरी के बारे में बहुत कुछ देखने-सुनने को मिलेगा। सबसे मिलने के पश्चात् पथ में उन सबका स्मरण करते हुए वृन्दावन जाना। तुम्हें सर्वप्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होंगी।"

विष्णुप्रिया देवी की तपस्या के बारे में 'भक्ति-रत्नाकर' में निम्नलिखित सुन्दर चित्र प्राप्त होता है, "प्रभु के बिछोह में निद्रा ने उनके नेत्रों का त्याग कर दिया। यदि कदाचित् निद्रा आती तो भी वे भूमि पर शयन करतीं। उनकी स्वर्ण की सी काया अति मलिन और कृष्ण चतुर्दशी के चन्द्र के समान क्षीण हो गयी। वे चावल के दानों से गिनती करते हुए हरिनाम लेतीं और उसी को पकाकर प्रभु को भोग देतीं। उसी प्रसाद का केवल कुछ हिस्सा वे स्वयं ग्रहण करती थीं, तो भी न जाने कैसे उनकी जीवनरक्षा हो जाती थी।"

(क्रमशः)

हिन्दू धर्म की विशेषताएँ (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

विश्व के रंगमंच पर आज जितने भी राष्ट्र जीवित हैं तथा विश्व के ज्ञात इतिहास में जिन राष्ट्रों की स्मृतियाँ शेष हैं, हमारा हिन्दू राष्ट्र उन सभी से प्राचीन है। आज भी उसके रगों में प्राणों का संचार है और वह एक जीवित राष्ट्र है।

विश्व का इतिहास साक्षी है कि हमारा राष्ट्र युगों तक विश्व के महान कहे जाने वाले राष्ट्रों का मार्गदर्शन करता है। भटकती मानवता को सत्पथ पर लानेवाला समर्थ जगद्गुरु रहा है। वह कौन सी विशेषता है जिसने हमारे राष्ट्र और हमारी जाति को इस प्रकार महान और चिरजीवी बनाया है? किस शक्ति की सामर्थ्य से यह राष्ट्र सहस्रों आघातों को शताब्दियों से झेलता हुआ आज भी जीवित है तथा पुनः सामर्थ्यवान होकर अपना प्राचीन गौरवपूर्ण पद प्राप्त करने को कटिबद्ध है? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है और वह है हमारा हिन्दू धर्म। हिंदू धर्म ही राष्ट्र की आत्मा है। यही उसका प्राणकेन्द्र है। यही उसकी महानता है। धर्म के महान, उदात्त और सर्वव्यापी सिद्धांत ही विश्व को उसकी देन है।

हिन्दू धर्म ने भारत की संस्कृति, सभ्यता, दर्शन, नैतिकता, विज्ञान, समाजशास्त्र, कला, शिक्षा, राजनीति, साहित्य आदि सभी अंगों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। हमारी संस्कृति और सभ्यता का विकास ही हिन्दू धर्म के आधार पर हुआ है। इतना ही नहीं हिन्दू धर्म और दर्शन ने विश्व के अनेक महान विचारकों, चिन्तकों तथा दार्शनिकों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। इसका कारण यह है कि इस धर्म की छत्रछाया में मानव के मन, मस्तिष्क

और जीवन का विकास हुआ है। प्राध्यापक मैक्समूलर ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"यदि कोई मुझसे पूछे कि किस क्षितिज के नीचे मानव मन में अपने दुर्लभ गुणों का पूर्ण विकास किया है, जीवन की महानतम समस्याओं का आद्योपान्त परीक्षण किया है तथा कम से कम कुछ व्यक्तियों के लिए इस समस्या का समाधान दिया है, ऐसा समाधान जिसका सम्मान वे लोग भी करते हैं, जिन्होंने कि प्लेटो और कांट का अध्ययन किया है, तो मैं भारत की ओर इंगित करूँगा। और यदि कोई मुझसे पूछे कि कौन सा ऐसा साहित्य है जो हमें वह आवश्यक समता प्रदान करेगा जिसके द्वारा हम अपने आन्तरिक जीवन को अधिक पूर्ण, अधिक विस्तृत, विश्वव्यापी—एक शब्द में अधिक मानवी बना सकेंगे, केवल इसी जीवन को नहीं अपितु एक शोधित और शाश्वत जीवन को भी उस प्रकार बना सकेंगे, तो मैं पुनः एक बार भारत की ओर इंगित करूँगा।"

स्वनामधन्य पाश्चात्य विद्वान प्राध्यापक मैक्समूलर की यह धारणा हिन्दू धर्म के महान ग्रन्थ वेदों का अध्ययन करने के पश्चात बनी थी। बहुविध विशेषताओं से युक्त यह हिन्दू धर्म आज भी संसार के विद्वानों और चिन्तकों को अपनी ओर आकर्षित करता है। अतः प्रत्येक हिन्दू के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने इस महान हिन्दू धर्म की कतिपय विशेषताओं को ध्यान में रखे तथा उनका चिन्तन कर अपने जीवन को उनके अनुसार ढालने का प्रयास करे।

हिन्दू धर्म प्रवर्तित नहीं, अनादि है

हिन्दू धर्म के अतिरिक्त संसार के अन्य जितने भी

धर्म हैं, उनको कभी न कभी, कहीं न कहीं, किसी न किसी महापुरुष, मसीहा या पैगम्बर ने प्रारम्भ किया, उसकी स्थापना की। इस्लाम का प्रवर्तन हजरत मुहम्मद ने किया। ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा हुए। बौद्ध धर्म का प्रारम्भ भगवान बुद्ध ने किया। किन्तु हिन्दू धर्म का प्रवर्तन किसी भी अवतार या महापुरुष ने नहीं किया है।

हिन्दू धर्म को सनातन या वैदिक धर्म भी कहा जाता है। सनातन का अर्थ है शाश्वत—जो सदैव विद्यमान हो। मानव जीवन के साथ ही इस महान धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। जिस प्रकार इस पृथ्वी में अनादिकाल से मानव का निवास है उसी प्रकार सनातन धर्म भी अनादिकाल से यहाँ अवस्थित है। यह धर्म कालनिरपेक्ष है। अतः हिन्दू धर्म न तो प्राचीन है और न नवीन। यह शाश्वत है, सनातन है।

हिन्दू धर्म का एक अन्य नाम वैदिक धर्म भी है। इस नाम के कारण कुछ लोगों को यह भ्रान्ति हो जाती है कि वेदों के प्रारम्भकाल से, या यों कहें कि जब से वेदों को लिपिबद्ध किया गया, तभी से हिन्दू धर्म प्रारम्भ हुआ। यह भ्रान्ति वेदों को भी कुरान या बाइबिल की तरह एक विधि-निषेधात्मक ग्रन्थ मनाने के कारण हुई है। वेद कोई विधि-निषेधात्मक ग्रन्थ नहीं है। इसमें उन ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभवों का वर्णन है, जो कि उन्हें सनातन धर्म के यथावत आचरण के परिणामस्वरूप प्राप्त हुए थे। उनमें सत्यानुभूति के मार्ग का दिग्दर्शन है।

वेद शब्द संस्कृत के विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है जानना। जिन ग्रन्थों में जाने हुए या स्वानुभूत सत्यों का वर्णन हो वे ही वेद कहे जाते हैं। इस अर्थ में वेद सत्य की उपलब्धि का विज्ञान है या दूसरे शब्दों के ईश्वर

प्राप्ति का विधान है। भारतीय दर्शन तथा हिन्दू धर्म के मूर्धन्य विद्वान डॉ. महादेवन ने लिखा है, "वेद एक सार्थक नाम है, जिसका अर्थ ईश्वर ज्ञान या ईश्वर विज्ञान होता है।"

ईश्वर अनादि अनन्त है, अतः उससे सम्बन्धित ज्ञान भी अनादि और अनन्त है अर्थात शाश्वत और सनातन है। इसलिए वेद भी शाश्वत और सनातन है। इन्हीं शाश्वत तत्वों पर आधारित होने के कारण हिन्दू धर्म भी शाश्वत और सनातन है। इस धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रो. रामदास गौड़ ने अपने विशाल ग्रन्थ 'हिन्दुत्व' में लिखा है—

"यदि हिन्दू धर्म, यह हिन्दू संस्कृति उस अत्यन्त प्राचीन काल में उत्पन्न हुई थी जब अन्य धर्मों और संस्कृतियों का गर्भाधान नहीं हुआ था, जब कल्पना ने उसका सुदूर स्वप्न भी नहीं देखा था। इसका जिस समय पूर्ण विकास हो चुका था, उस समय उन अन्य धर्म और संस्कृतियों का जो आज संसार में प्राचीन होकर अतीत हो गई हैं, अरुणोदय हो रहा था।"

इन तथ्यों से यह स्वयं प्रमाणित है कि हमारा हिन्दू धर्म शाश्वत और सनातन है।

हिन्दू धर्म मसीहावादी नहीं ईश्वरवादी है

अपने धर्म के अवतारों के सम्बन्ध में अनेक बार हिन्दुओं को ही ऐसी भ्रान्त धारणा हो जाती है कि हमारे अवतार भी ससार के अन्य धर्मावलंबियों के मसीहों पैगम्बरों आदि के समान ही ईश्वर के पुत्र या सन्देशवाहक हैं। किन्तु हिन्दू धर्म के अवतार और ईसाई, इस्लाम प्रभृति धर्मों के

मसीहावाद या पैगम्बरवाद में आकाश-पाताल का अन्तर है। ईसाई धर्म के अनुसार, महात्मा ईसा ईश्वर के अवतार नहीं हैं। वे तो ईश्वर के पुत्र हैं। जिन्हें ईश्वर ने ससार के कल्याण के लिए संसारियों को दिया है। संसार में ईश्वर कभी नहीं आये और न आएँगे। ईश्वर को कोई भी व्यक्ति नही जान पाया, न ही देख पाया और न कभी देख पाएगा या जान पाएगा। इस कारण भी व्यक्ति ईश्वर से न तो कभी कोई आदेश प्राप्त कर पायेगा और न ही मार्गदर्शन पा सकेगा। ईश्वर का प्रत्येक संदेश मानव को उसके प्रिय पुत्र द्वारा ही मिला है, जो कि स्वयं ईश्वर नहीं है। अत: ईश्वर के सबध में कोई खोज या गवेषणा नहीं हो सकती। इसलिए इस धर्म के अनुयायियों का यह कर्त्तव्य है कि वे प्रभु के प्रिय पुत्र महात्मा ईसा द्वारा बताए गए ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान की अन्तिम सीमा मान लें तथा उस पर बिना तर्क अटल विश्वास रखकर ईसा मसीह की उपासना करें। केवल इसी उपाय से महात्मा ईसा द्वारा ही स्वर्ग के राज्य में प्रवेश किया जा सकता है। तद्‌भिन्न अन्य कोई भी मार्ग हमें मुक्ति नहीं दे सकता।

इस्लाम के अनुसार मुहम्मद साहब ईश्वर के सदेशवाहक हैं, ईश्वर का पैगाम लाने के कारण ही वे पैगम्बर कहे जाते हैं, उनके अवतार नही। इस्लाम में भी ईश्वर संबधी समस्त ज्ञान पैगम्बर साहब द्वारा ही दिया गया है, तथा वही अतिम आध्यात्मिक सत्य है। उस पर भी किसी प्रकार की टीका नहीं की जा सकती। उससे आगे कोई शोध और गवेषणा नही की जा सकती। वहाँ भी मुक्ति के लिए पैगम्बर साहब के बनाए हुए मार्ग से ही जाना होगा। तद्‌भिन्न कोई भी मार्ग व्यक्ति को धर्मराज्य में सफलता

प्रदान नहीं कर सकता।

हिन्दुओं की अवतार की धारणा इन धारणाओं से सर्वथा भिन्न है। हिन्दुओं के अवतारवाद या तो ईश्वर के पूर्णावतार हैं या अंशावतार अर्थात् ईश्वर स्वयं नाम रूप धारण कर इस संसार में प्रकट होते हैं। हमारे अवतार ईश्वर के दूत या पुत्र नहीं थे। हिन्दू धारणा के अनुसार ईश्वर धर्म की स्थापना करने, अधर्म का नाश करने, दुष्टों का दमन करने तथा सज्जनों का उद्धार करने के लिए अवतार धारणकर इस धराधाम में आते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानं अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। (गीता ४/७-८)

—"हे भारत, जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं अपने रूप को प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषों का उद्धार, दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग युग में प्रकट होता हूँ।"

हमारे देश में भगवान श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण से लेकर चैतन्य महाप्रभु तथा हमारे युग में श्रीरामकृष्ण परमहस तक अवतारों की एक शृंखला चली आ रही है। हिन्दुओं के कोई भी अवतार प्रथम और अतिम नहीं हैं। हमारे अवतारों का प्रयोजन है धर्म पथ से च्युत मानवता को पुनः उस पथ पर आरूढ़ कराना। जब जब ससार में अधर्म, अनैतिकता, नास्तिकता आदि दोषों का प्रभाव अत्यत तीव्र हो जाता है तब तब भगवान युग के प्रयोजन के अनुसार अवतार ग्रहण करते हैं, तथा ससार का त्राण करते हैं।

हिन्दुओं के अवतारों का दूसरा प्रयोजन है—

आध्यात्मिक तत्वों का जीवन में आचरण कर उनकी व्यावहारिकता को प्रत्यक्ष करना। वेदों और उपनिषदों में जिन आध्यात्मिक सत्यों की अनुभूति का वर्णन है, वे सभी अनुभूतियाँ हमारे अवतारों के जीवन में प्रत्यक्ष रूप से आचरित दीख पड़ती हैं। अपने आचरण तथा जीवन द्वारा हमारे अवतारों ने आध्यत्मिक सत्यों को प्रमाणित किया है। यही कारण है कि स्मृति आदि शास्त्रों में जहाँ उपनिषदों और वेदों के विरुद्ध कोई बात कही गई हो, उसे हिन्दू साहसपूर्वक अस्वीकार करता है।

हिन्दुओं के अवतार सर्वथा मानवीय पहुँच के भीतर हैं, जब जब भगवान का अवतार हुआ है वे सदैव अपने भक्तों के साथ रहे हैं। उनके साथ व्यवहार किया, उनसे संबंध रखा है, तथा उन्हें धर्मजीवन की ओर प्रेरित किया है। मनुष्य के सबसे निकट यदि कोई है तो वह ईश्वर ही है। अतः उसके अवतार भी हमारे निकटतम स्वकीय हैं। अतः व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार किसी भी अवतार को स्वीकार कर उनके बताए हुए मार्गों का अनुसरण करते हुए सत्य की उपलब्धि कर सकता है। हमारा अवतारवाद उदात्त, विशाल एवं सर्वग्राही है उसमें सभी पंथों, मतों एवं मान्यताओं के लिए स्थान है।

हिन्दू धर्म आध्यात्मवादी है, जड़वादी नहीं

हिन्दू धर्म मूलतः आध्यात्मिक है। आध्यात्मिकता और धर्म हिन्दू के लिये समानधर्मी हैं। आध्यात्मिकता से भिन्न किसी धर्म की कल्पना हिन्दू मन कर ही नही सकता। समस्त ब्रह्माण्ड हिन्दू की दृष्टि में ईश्वरमय है। अतः वह जड़ जगत के आधारस्वरूप इस सत्ता का अनुसंधान करना

ही जीवन का लक्ष्य मानता है तथा उसके अनुसार ही अपने जीवनक्रम की व्यवस्था करता है। ईशावास्य उपनिषद् में ऋषि घोषणा करते हैं—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।। (२)

"अखिल ब्रह्माण्ड में जो भी जड़ चेतन जगत है, यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है, उस ईश्वर को ग्रहण कर त्यागपूर्वक इस जगत् का भोग करो, इसमें आसक्त मत हो, क्योंकि धन किसका है? अर्थात किसी का नहीं।"

हिन्दू धर्म हमें यह बताता है कि यह दृश्य जड़-चेतन जगत् नाशवान है, अतः यह अंतिम सत्य नहीं है, किन्तु इस नाशवान जगत् के पीछे जो सत्ता है जिसके कारण कि यह जगत् स्थित है, यही वस्तुतः सत्य है। वही इस जड़-चेतनमय जगत् का कारण है। उससे ही यह संपूर्ण सृष्टि प्रकट हुई है। और उसी में इसका लय भी होता है। अतः सृष्टि के आदि कारण का संधान करने के लिए हमें इस जड़-चेतनमय जगत् को भेदकर इसके पीछे की सत्ता का अनुभव करना होगा। इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर संसार के सभी ज्ञान प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि हिन्दू धर्म व्यक्ति को सत्य संधान करने के लिए अर्न्तमुख बनाता है तथा उसे बताता है कि तुम जड़ जगत् के दास नहीं, उसके स्वामी हो। तुम्हें स्वामी की भाँति उसका उपयोग और भोग करना चाहिए। इन्द्रियों के दास होकर तुम्हें जड़ जगत् के अधीन नहीं होना चाहिए। हिन्दू धर्म हमें बताता है कि जड़ जगत् को ही सत्य मानकर उसमें सुख और शांति ढूँढना पानी को मथकर मक्खन निकालने के समान है। ऐसा करने पर मनुष्य अधिकाधिक जड़ जगत् का दास होता जाता है। आधुनिक

यूरोप और अमेरिका के राष्ट्र तथा रूस व चीन इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन राष्ट्रों ने भौतिक जगत् को ही अन्तिम सत्य मान लिया है और जड़ जगत् के अनुसधान में ही मानव की समस्त शक्ति को लगा दिया है। निस्सन्देह, इसके कारण उन राष्ट्रों ने महान भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। किन्तु वहाँ मनुष्य सुखी और शान्त नहीं है। भय तथा आशंका से व्यक्ति और समाज दोनों ही वहाँ प्रताड़ित हैं।

हिन्दूएत्तर कुछ अन्य धर्म भी एक प्रकार से भौतिकवादी ही हैं। वे व्यक्ति को मृत्यु के पश्चात् ऐसे स्वर्ग की प्राप्ति का आश्वासन देते हैं, जहाँ कि संसार के ही सुख सहस्त्रगुण तथा दुखरहित होकर दीर्घकाल तक उसे प्राप्त होते रहेंगे। वे धर्म मनुष्य को धर्माचरण करने का आदेश इसलिए देते हैं कि उससे उसे स्वर्ग मिलेगा। किन्तु हिन्दू धर्म स्वर्ग को भी पृथ्वी की ही भाँति क्षणभंगुर और इसलिए त्याज्य मानता है। हिन्दू धर्म मनुष्य को स्वर्गसुख का प्रलोभन नहीं देता, वह तो उसे स्वर्ग के भी सभी सुखों का त्यागकर अक्षुण्ण, अनादि, अनन्त आत्मानन्द में अवस्थित होने का आह्वान करता है। यही हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता है। यही उसकी गुरुता है।

हिन्दू धर्म पुरुषार्थवादी है, भाग्यवादी नहीं

हिन्दू धर्म के कर्मवाद को भलीभाँति न समझने के कारण कई लोग हमारे धर्म को भाग्यवादी कहते हैं। किन्तु कर्मवाद को समझने वाले लोग यह ठीक ठीक जानते हैं कि इस विश्व में केवल हिन्दू धर्म ही ऐसा धर्म है जो वस्तुतः पुरुषार्थवादी है तथा वह व्यक्ति को स्वयं के भाग्य का

निर्माता मानता है। कर्म सिद्धात का प्रतिष्ठान करनेवाले महान ग्रन्थ गीता में भगवान ने पुरुषार्थवाद का गम्भीर उद्घोष किया है। वे कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। (६/५)

—"अपने द्वारा ही आपका उद्धार करें। अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि आप ही अपना मित्र हैं और आप ही अपना शत्रु है।"

अर्थात् हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। हम अपने कर्मों द्वारा, अपने पुरुषार्थ द्वारा, महान से महान व्यक्ति बन सकते हैं। और यदि हम पुरुषार्थ न करें तो समस्त सुविधाएँ और महान सौभाग्य भी हमें महान नहीं बना सकते। हिन्दू धर्म कार्य-कारण के अटल सिद्धांत में विश्वास करता है। बिना कारण के कोई कार्य हो ही नहीं सकता। कर्म ही कार्य का कारण है। जैसा कर्म होता है उसके अनुसार ही उसका फल भी होता है। यह फल ही कार्य है और कर्म उसका कारण। कर्म सिद्धात हमें बताता है कि यदि हम दीन-हीन, दुखी, दरिद्र हैं, तो वह हम अपने कर्मों के कारण ही हैं। यदि हम पुनः पुरुषार्थ करें, तो सुखी, वैभवसम्पन्न और सामर्थ्यशाली हो सकते हैं। इसलिए हिन्दू धर्म ऐसे सिद्धांत में विश्वास नहीं करता कि हजारों वर्ष पूर्व किसी एक आदमी ने पाप किया और तब से आज तक आने वाली मानव पीढ़ियाँ उस व्यक्ति के पाप का दण्ड भोग रही हैं; स्वयं पापी हो गई हैं तथा अपने कर्म से कभी पापमुक्त नहीं हो सकतीं। सातवें आसमान में बैठा ईश्वर ही यदि चाहे तो उन्हें पाप से मुक्त कर सकता है अन्यथा उन्हें अनन्तकाल तक नरक ही भोगना पड़ेगा। हिन्दू धर्म तो

कहता है कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। उठो, पुरुषार्थ करो और अमरत्व के अधिकारी होकर नर से नारायण हो जाओ। (आगामी अंक में समाप्य)

चरित्र का निर्माण

हमारे मन में जो विचारधाराएँ बह जाती हैं, उनमें से प्रत्येक अपना एक-एक चिह्न या संस्कार छोड जाती है। हमारा चरित्र इन सब संस्कारों की समष्टिस्वरूप है। जब कोई विशेष वृत्ति-प्रवाह प्रबल होता है, तब मनुष्य उसी प्रकार का हो जाता है। जब सद्‌गुण प्रबल होता है, तब मनुष्य सत् हो जाता है। यदि खराब भाव प्रबल हो, तो मनुष्य खराब हो जाता है। यदि आनन्द का भाव प्रबल हो, तो मनुष्य सुखी होता है। बुरे अभ्यास का एकमात्र प्रतिकार है—उसका विपरीत अभ्यास। हमारे चित्त में जितने असत् संस्कारबद्ध हो गये हैं, उन्हें सत् अभ्यास द्वारा नष्ट करना होगा। केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; बुरे संस्कार रोकने का बस, यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का—कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है और ये अभ्यास नये तथा भले अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं। चरित्र बस, बारम्बार अभ्यास की समष्टि मात्र है और इसी प्रकार का बारम्बार अभ्यास ही चरित्र का सुधार कर सकता है।

—स्वामी विवेकानन्द

माँ के सान्निध्य में (२९)

स्वामी परमेश्वरानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक श्री माँ सारदा देवी के शिष्य थे। मूल बंगला ग्रंथ 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। —सं.)

स्थान — जयरामवाटी

पौष का महीना है। आज श्री माँ की जन्मतिथि है। वे अपने कमरे में तख्त के ऊपर राधू के लड़के को गोद में लेकर बैठी हैं। सभी माँ के चरण-कमलों में पुष्प, चन्दन देकर पूजा कर रहे हैं। मैंने गेंदे के फूलों की माला माँ के गले में पहनाकर उनके श्रीचरणों में पुष्पांजलि अर्पित की और कहा, "माँ, आज आपका जन्मदिन है। बहुतों की इच्छा होती है कि वे आज के दिन आपका दर्शन और पूजन आदि करें, किन्तु उन्हें इस दुर्गम स्थान में आने का अवसर नहीं मिल पाता। आज के इस विशेष दिन मैं सभी के लिए आशीर्वाद की प्रार्थना करता हूँ। माँ आशीर्वाद दीजिए जिससे सबका कल्याण हो।" माँ ने प्रसन्न होकर कहा, "हाँ बेटा, मैं सबके कल्याण के लिए ठाकुर के पास प्रार्थना करती हूँ, वे सबका मंगल करें।"

माँ के आदेश से मैं उनके पास ही रहता था। ठाकुर-पूजा तथा अन्य कार्यों में मुझे बहुत व्यस्त रहना पड़ता था। एक दिन मैंने सुना कि मठ के कुछ संन्यासी तपस्या के लिए जा रहे हैं। यह सुन मैंने माँ से कहा, "इस कामकाज के बीच रहना मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। मैं भी तपस्या करने जाऊँगा, आप आज्ञा दीजिए।" माँ ने कहा, "यह क्या बेटा, तुम मेरा काम कर रहे हो, ठाकुर का काम कर रहे हो, क्या यह तपस्या से कम है? व्यर्थ हवाई उड़ान

के लिए कहाँ जाओगे? जब जाने की तीव्र इच्छा होगी तो एक-दो महीने के लिए कहीं घूम-फिर आना।

जयरामवाटी में मलेरिया का प्रकोप था। बीच-बीच में बुखार आने से माँ का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। इसलिए पूजनीय शरत् महाराज के आदेश से कुछ दिन के लिए माँ का दर्शन बन्द क ˉ दिया गया था। ऐसे समय में बरीशाल से कोई एक भक्त आकर उपस्थित हुए और माँ के दर्शन के लिए बहुत आग्रह करने लगे। पर मैंने उन्हें जाने देने से इन्कार कर दिया। इसे लेकर हम दोनों में बहुत विवाद होने लगा। इसकी आवाज माँ के कानों तक पहुँची। वे अस्त-व्यस्त अवस्था में दरवाजे के पास पहुँचीं और क्षुब्ध होकर मुझसे बोलीं, "तुम उसे मेरे पास आने से क्यों रोक रहे हो?" मैंने कहा, "शरत् महाराज ने मना किया है। अस्वस्थ शरीर में दीक्षा देने से आपका स्वास्थ्य और भी खराब होगा।" माँ ने कहा, "शरत् के कहने से क्या हुआ? मैं उसे दीक्षा दूँगी।" भक्त से उन्होंने कहा, "आओ बेटा, आज तुम जल ग्रहण करो, कल तुम्हारी दीक्षा होगी।"उन सज्जन का संकल्प था कि दीक्षा के बाद ही वे जल ग्रहण करेंगे।

एक दिन माँ संध्या के समय नये घर के बरामदे में बैठी विश्राम कर रही थीं। हम लोग उसी समय प्रणाम करने गये। माँ स्वयं ही कहने लगीं, "देखो, क...कहता है, 'लड़के लोग खाने-पीने के लोभ से इस आश्रम से उस आश्रम में जाते रहते हैं।' यह कैसी बात है—देखते हो? मेरे बेटों को—ठाकुर के बेटों को भला भोजन का कष्ट क्योंकर होगा? कभी नहीं होगा। मैंने स्वयं ठाकुर से प्रार्थना की थी, 'हे ठाकुर, तुम्हारे लड़कों को कभी भोजन का कष्ट न हो।'

और वह कहता है कि वे लोग लोभ के कारण इधर से उधर जाते हैं। वे लोग अच्छा भोजन क्यों नहीं पायेंगे? जिसमें आसक्ति होगी वही दु:ख-कष्ट पायेगा।"

माँ मन्दिर में बैठी थीं। पूजा समाप्त हो चुकी थी। मेरे एक गुरुभाई ने सहसा माँ से पूछा, "माँ, आप ठाकुर को किस रूप में देखती हैं?" माँ कुछ देर चुप रहकर गम्भीर भाव में बोलीं, "सन्तान के रूप में देखती हूँ।"

एक दिन माँ अपने आप बोलीं, "देखो, तुम लोग 'वन्देमातरम्' का नारा लगाते हुए फेरी करते हुए मत फिरो। उसके बदले हाथकरघा करना, कपड़ा बुनना उचित है। मेरी तो इच्छा होती है कि एक चरखा मिल जाय तो सूत कातूँ। तुम लोग रचनात्मक कार्य करो।"

बातचीत के बीच एक दिन मैंने माँ से कहा, "माँ, हमारे मन की अवस्था बड़ी दयनीय है। बीच-बीच में मन ऐसा चंचल हो उठता है कि भय लगता है कि कहीं डूब न जायँ।" माँ ने कहा, "यह क्या बेटा, डूबोगे क्यों? तुम लोग ठाकुर की सन्तान हो, क्योंकर डूबोगे? कभी नहीं। ठाकुर तुम लोगों की रक्षा करेंगे।"

माँ तब कोयलापाड़ा में जगदम्बा आश्रम में थीं। एक दिन वे कहने लगीं, "देखो, मैंने बहुत दिनों के बाद आज ठाकुर को यहाँ पर देखा। भोजन के बाद वे खूब विश्राम कर रहे थे।"

एक दिन मैंने माँ से पूछा, "माँ, ब्रह्मज्ञान कैसे होता है? क्या पहले-पहल हर विषय को लेकर अभ्यास करना पडता है? अथवा यह अपने आप ही हो जाता है?" माँ ने कहा, "वह पथ बड़ा कठिन है। तुम लोग ठाकुर को पुकारो, समय होने पर वे स्वयं बता देंगे।"

जमशेदजी टाटा

स्वामी विदेहात्मानन्द

युवक नरेन्द्रनाथ को अपने धर्म-संस्थापन का असमाप्त कार्य सौंपकर भगवान श्रीरामकृष्ण ने १६ अगस्त, १८८६ ई. को महासमाधि ली थी। नरेन्द्रनाथ ने गृह-त्याग किया, गुरुभाइयों का भी संग छोड़ा और एक दीन-हीन अकिंचन संन्यासी के रूप में सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण करने को वे निकल पड़े। कभी वे पैदल भ्रमण करते, तो कहीं रेल में, कभी राजमहल में आश्रय लेते तो कहीं दरिद्र की कुटिया में, कहीं पण्डितों के बीच शास्त्र-चर्चा करते तो कहीं चाण्डाल के साथ धर्मप्रसंग। इस प्रकार वे जात-पात, धर्म-सम्प्रदाय, धनी-निर्धन का भेद-भाव भुलाकर लगभग छः सुदीर्घ वर्षों तक भारतीय जन-समुदाय के बीच विचरण करते रहे। इस अवधि में उन्होंने सम्पूर्ण भारतवासियों के सुख-दुख में हिस्सा बँटाया, उनकी विविध जीवन-पद्धतियों व समस्याओं को निकट से देखा, उनका गहराई से अध्ययन किया और मानो भारतभूमि के साथ वे एकाकार हो गये। १८९२ ई. के अन्तिम सप्ताह में वे भारत के दक्षिणी छोर, तीन समुद्रों के संगम क्षेत्र, कन्याकुमारी पहुँचे। वहाँ सागर के खारे जल से घिरे एक शिलाखण्ड पर बैठकर वे ध्यान में तल्लीन हो गये। उनके ध्यान का विषय ३३ करोड पौराणिक देवी-देवताओं में से कोई भी न था। उनका मन एकाग्र हुआ था ३३ करोड़ जीवन्त मानव-देवताओं पर। भारतवर्ष की आम जनता का दुःख-दारिद्र्य देखकर उनका हृदय पिघल उठा था, प्राण विलख उठे थे और उनके मन में

उधेड़-बुन चल रही थी—क्या इनके उद्धार का कोई उपाय नहीं है? क्या भारतवासी पतन के गर्त में गिरते ही रहेंगे? पाश्चात्य विज्ञान और भौतिकवाद की थोड़ी सहायता लिये बिना भारत नहीं बचेगा। भारत के पुनरुत्थान के लिए सहसा उनके मन में एक समाधान सूझ पड़ा। वे लिखते हैं—"मैंने सोचा कि हम जो इतने संन्यासी घूमते-फिरते हैं और लोगों को दर्शनशास्त्र की शिक्षा दे रहे हैं, यह सब निरा पागलपन है। हमारे गुरुदेव कहा करते थे न कि खाली पेट से धर्म नहीं होता। वे गरीब जो जानवरों का सा जीवन बिता रहे हैं, उसका कारण अज्ञान है।...सोचो, गाँव-गाँव में कितने ही सन्यासी घूमते-फिरते हैं, वे क्या काम करते हैं? यदि कोई निःस्वार्थ परोपकारी संन्यासी गाँव-गाँव में विद्यादान करता फिरे...तो उससे समय पर मंगल होगा या नहीं?...इसे करने के लिए पहले तो लोग चाहिए, फिर धन। गुरु की कृपा से मुझे प्रत्येक नगर में दस-पंद्रह आदमी मिल जायेंगे। मैं धन की चेष्टा में घूमा, पर भारतवर्ष के लोग भला धन देंगे!!"

स्वामीजी ने निश्चय किया कि वे स्वयं ही अमेरिका जायेंगे और अपने बल-बूते से धन कमाकर भारत की दरिद्र जनता के बीच शिक्षा व उद्योग-धन्धों के प्रसार में लगा देंगे।

३१ मई, १८९३ ई. को उन्होंने बम्बई से जलयान में भौतिक समृद्धि की भूमि अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने चीन व जापान में उतरकर कुछ स्थानों का भ्रमण भी किया। भारत के प्रसिद्ध व्यवसायी उद्योगपति जमशेदजी टाटा उस समय जापान में ही थे। स्वामीजी से वहाँ उनकी मुलाकात सम्भवतः किसी कारखाने या होटल में

हुई थी। बाद में श्री टाटा ने भगिनी निवेदिता को बताया था कि स्वामीजी जब जापान में थे तो वहाँ के लोग भगवान् बुद्ध के साथ उनका सादृश्य देखकर हतप्रभ रह गये थे। सम्भवत: जापान में ही परिचय हो जाने के कारण स्वामीजी और श्री टाटा ने जापान से कनाडा तक की समुद्रयात्रा एक ही साथ की थी। उनका 'एम्प्रेस ऑफ इण्डिया' नामक जलयान १४ जुलाई को याकोहामा से चलकर २५ जुलाई को वैंकुवर पहुँचा। ११-१२ दिनों की सहयात्रा ने उनके बीच प्रगाढ़ घनिष्ठता उत्पन्न कर दी थी। उनके बीच शिक्षा व उद्योग के विस्तार के बारे में जो चर्चाएँ हुई थीं, उनका विस्तृत विवरण तो नहीं मिलता, पर यत्र-तत्र तोड़ा आभास जरूर मिलता है।

स्वामीजी ने जमशेदजी से जो बातें ही होंगी, उनका अनुमान हम उनकी इस यात्रा के पूर्व तथा बाद की उक्तियों एवं लेखन से कर सकते हैं। जापान से प्रस्थान करने के चार दिन पूर्व, १० जुलाई को वे आलासिंगा पेरुमल के नाम अपने पत्र में लिखते हैं—

"जान पड़ता है कि जापानी लोग अपनी वर्तमान आवश्यकताओं के प्रति पूर्ण सचेत हो गये हैं। उनकी एक पूर्ण सुव्यवस्थित सेना है, जिसमें यहीं के अफसर द्वारा आविष्कृत तोपें काम में लायी जाती हैं और जो अन्य देशों की तुलना में कोई कम नहीं है। ये लोग अपनी नौसेना बढ़ाते जा रहे हैं। मैंने एक जापानी इंजीनियर की बनाई करीब एक मील लम्बी सुरग देखी है। दियासलाई के कारखाने तो देखते ही बनते हैं। ये लोग अपनी आवश्यकता की सभी चीजें अपने देश में ही बनाने पर तुले हुए हैं। ...जापानियों के विषय में जो कुछ मेरे मन में है, वह सब

इस छोटे से पत्र में लिखने में असमर्थ हूँ। मेरी इच्छा तो सिर्फ यह है कि प्रति वर्ष यथेष्ट संख्या में हमारे नवयुवकों को चीन और जापान में आना चाहिए।...

"और तुम लोग...किताबें हाथ में लिये केवल समुद्र के किनारे फिर रहे हो, यूरोपियनों के मस्तिष्क से निकली हुई इधर-उधर की बातों को लेकर बिना समझे दुहरा रहे हो। तीस रुपये की मुंशीगीरी या बहुत हुआ तो एक वकील बनने के लिए जी-जान से तड़प रहे हो।...क्या समुद्र में इतना पानी भी न रहा कि तुम विश्वविद्यालय के डिप्लोमा, गाउन तथा पुस्तकों के समेत उसमें डूब मरो?"

फिर अमेरिका पहुँचकर उन्होंने जो अगस्त के अन्त में कतिपय व्याख्यान दिये थे, उनमें से एक का विवरण देते हुए एक समाचारपत्र ने लिखा था—"वक्ता ने बतलाया कि उनका उद्देश्य अपने देश में संन्यासियों का औद्योगिक कार्यों के निमित्त संगठन करना है, जिससे कि वे जनता को इस औद्योगिक शिक्षा का लाभ उपलब्ध करा सकें और इस प्रकार उन्हें उन्नत कर सकें तथा उनकी दशा सुधार सकें।"

उपर्युक्त उद्धरणों से ऐसा लगता है कि उन दिनों स्वामीजी के मन में निम्नलिखित विचार चल रहे थे—(१) संन्यासियों का ऐसा संघ बनाया जाय, जिसके सदस्य आम जनता के बीच जाकर आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-ही-साथ भौतिक विज्ञान का भी वितरण करें। अपनी इस योजना का उल्लेख उन्होंने बाद के कई पत्रों में किया था। (२) भारत की शिक्षा-प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन। यहाँ के नवयुवकों को जापान तथा यूरोप-अमेरिका के अन्य नगरों में भेजकर वैज्ञानिक व

यांत्रिक शिक्षा दिलायी जाय तथा भारतवर्ष में भी सिर्फ क्लर्क बनाने वाली शिक्षा के स्थान पर चरित्र-निर्माण करने वाली तथा उद्योग-धन्धे सिखानेवाली शिक्षा का प्रचलन किया जाय। बाद में भी एक बार उन्होंने वार्तालाप के प्रसंग में कहा था–"यदि मुझे कुछ अविवाहित ग्रेजुएट मिल जाएँ तो मैं उन्हें जापान भेजकर यांत्रिक शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध कर दूँगा, ताकि जब वे स्वदेश लौटें, तो अपने ज्ञान से भारत का कुछ हित कर सकें।" (३) भारत का धनिक-वर्ग भारत में उन्नत कृषि तथा औद्योगिक उन्नति में पूँजी निवेश करें। एक अन्य समय उन्होंने कहा था कि भारतीय व्यवसायी वर्ग सिर्फ विदेशी माल के व्यापार के स्थान पर यदि अपना धन कल-कारखाने खोलने में लगायें, तो इससे देश की भलाई भी होगी और उनका मुनाफा भी बढ़ेगा।

स्वामीजी ने जमशेदजी के साथ मुख्यतः इन्हीं विषयों पर चर्चा की थी। कहते हैं कि एक दिन स्वामीजी उनसे बोले—"आप जापान से दियासलाई लाकर अपने देश में बेचकर जापान को धन क्यों दे रहे है? आपको तो इसमें मामूली-सा कमीशन मात्र मिलता है। इससे अच्छा तो यह होता कि आप देश में ही दियासलाई का कारखाना लगाते। इससे बहुत-से लोगों को रोजगार भी मिलेगा और देश का धन देश में ही रह जायगा।" स्मरणीय है कि तब तक श्री टाटा के कपड़े की दो मिलें मात्र थीं, बाद में उन्होंने धीरे-धीरे अन्य उद्योग भी प्रारम्भ किये तथा इस्पात उद्योग की योजना बनायी।

जमशेदजी ने पिछले ही वर्ष (१८९२ ई. में) एक ट्रस्ट की स्थापना की थी जिसके माध्यम से वे कुशाग्रबुद्धि भारतीय विद्यार्थियों को ऋण देकर उच्च शिक्षा के लिए

विदेश भेजा करते थे। यह स्वामीजी के मन की ही बात थी, अत: उन्होंने अवश्य ही इस पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की होगी। परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि भारत में भी ऐसी शिक्षा-व्यवस्था का विकास करना होगा। ऐसे सस्थान गढने होंगे, जहाँ कि 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श में निष्ठा रखनेवाले विद्वान् माननीय, सामाजिक व भौतिक विज्ञान की उन्नति व प्रसार के लिए कार्य करेंगे। उन दिनों स्वामीजी ने खेतडी के राजा को जो पत्र लिखे थे, उनमें इन चर्चाओं का कुछ विवरण दिया था, परन्तु दुर्भाग्यवश अब वे अप्राप्य हैं।

कनाडा में जलयान से उतरकर श्री टाटा ने शिकागो जाकर वहाँ पर आयोजित सभ्यता, कला, विज्ञान तथा उद्योग की प्रदर्शनी देखी, और वहाँ से इग्लैंड होते हुए भारत लौट आये। उसी मेले का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम था—विश्व धर्म महासभा, पर उसमें काफी देरी थी।

११ सितम्बर को स्वामी विवेकानन्दजी ने धर्ममहासभा के प्रथम दिन अपना ऐतिहासिक अभिभाषण दिया। उनकी सफलता का सवाद सम्पूर्ण विश्व में विद्युत् वेग से फैल गया। तब से काफी दिनों तक स्वामीजी ने अमेरिका तथा यूरोप के विविध नगरों का दौरा कर वेदान्त के उदार धर्म का प्रचार किया और साथ ही भारत के अपने कार्य के लिए धन-सग्रह का भी प्रयास वे करते रहे। उनके क्रिया-कलापों के सवाद समाचारपत्रों में निरन्तर निकलते रहते थे। तीन वर्षों से भी अधिक काल तक पश्चिम में कार्य करने के पश्चात् स्वामीजी १८९७ ई. की जनवरी में भारत लौटे। सारा भारत अपने इस वीर नायक का स्वागत करने को उठ खड़ा हुआ।

श्री टाटा ने अवश्य स्वामीजी से सम्बन्धित ये संवाद अत्यन्त उत्सुकता के साथ पढ़े होंगे। स्वामीजी के साथ जहाज में हुई बातें उनके मन में घर कर गयी थीं। कई वर्षों तक गंभीरतापूर्वक सोच-विचार करने के पश्चात् उन्होंने भारत में उपयोगी शिक्षा के विस्तार के निमित्त एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया। १८९८ ई. के सितम्बर में जब उन्होंने अपनी इस योजना की घोषणा की तो सम्पूर्ण भारत में एक हलचल-सी मच गयी। प्रायः सभी समाचारपत्रों में यह एक चर्चा का विषय बनी। 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने अपने २८ सितम्बर के अंक में इस विषय पर एक लेख प्रकाशित किया जिसका सार निम्नलिकित है—"बम्बई के प्रसिद्ध व्यवसायी मि. जे.एन. टाटा, विधिपूर्वक गठित एक कमेटी के हाथ में कुछ शर्तों के साथ अपनी तीस लाख की सम्पत्ति हस्तान्तरित करना चाहते हैं, जिसकी वार्षिक आय सवा लाख रुपये है। इस दान के उद्देश्य है—स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए एक संस्था की स्थापना। उद्योग तथा वाणिज्य की उन्नति के लिए उच्च शिक्षा का काफी महत्व है— मि. टाटा की इस धारणा की बात सबको विदित है। इसके साथ ही वे इस देश की विश्वविद्यालयीन शिक्षा के उन्नयन के बारे में भी विचार कर रहे हैं। उनके मतानुसार प्रतिभावान युवक ही हमारे राष्ट्र की प्राकृतिक तथा अन्य सम्पदाओं का उद्धार व सदुपयोग कर सकते हैं तथा उद्योग व वाणिज्य की विविध समस्याओं के समधान में आत्म नियोग कर सकते हैं। इस देश के नवयुवकों को शोध-कार्य में नियोजित करने के लिए प्रयोगशाला तथा ग्रन्थालय स्थापित करने की आवश्यकता है, जहाँ पर कि छात्रगण शिक्षकों के निर्देशन में उक्त कार्य

का सम्पादन करेंगे।"

उन दिनों अर्थात् अब से लगभग एक सदी पूर्व ३० लाख रुपये एक बड़ी रकम थी और वह भी जमशेदजी की योजना का प्राय: एक तिहाई भाग ही थी। बाकी रकम के लिए उन्होंने सरकार तथा जनता से अपील की थी। इस अपील के उत्तर में मैसूर के महाराजा ने साढ़े पाँच लाख रुपये, एक लाख का वार्षिक अनुदान तथा ३०० एकड़ भूमि दान करने का वचन दिया था। सर दोराबजी टाटा का कथन है कि उनके पिता सरकार का नीरस रुख देखकर निराश हो गये थे और उन्होंने स्वामी विवेकानन्द से इस सम्बन्ध में जनजागरण निमित्त एक पुस्तिका लिखने का आग्रह किया था। २३ नवम्बर, १८९८ ई. एस्प्लेनेड रोड, बम्बई से लिखा श्री टाटा का पत्र इस प्रकार है—

"प्रिय स्वामी विवेकानन्द,

आशा है आपको जापान से शिकागो तक के अपने इस सहयात्री की याद होगी। आपके वे विचार मुझे अब विशेष रूप से स्मरण हो रहे हैं कि भारतवर्ष में त्याग-तपस्या का जो आदर्श पुन: जागृत हो रहा है, हमारा उद्देश्य उसे नष्ट करना नहीं, बल्कि उसे रचनात्मक पथों पर परिचालित करने की विशेष आवश्यता है।

अपने विज्ञान शोध-संस्थान के संदर्भ में ही मैं आपके उन विचारों का स्मरण कर रहा हूँ जिसके बारे में आपने अवश्य ही सुना या पढ़ा होगा। मेरी राय में यदि ऐसे आश्रमों या आवास-गृहों की स्थापना की जाय, जहाँ कि त्याग-व्रत धारण करनेवाले सादा जीवन बिताते हुए, भौतिक व मानवीय विज्ञानों की चर्चा में अपना जीवन

उत्सर्ग कर दें, तो त्याग भावना की इससे अच्छी उपयोगिता संभव नहीं।

मुझे लगता है कि इस तरह के जेहाद का उत्तरदायित्व यदि कोई योग्य नेता उठा ले, तो इससे धर्म व विज्ञान दोनों की ही प्रगति होगी तथा हमारे देश की कीर्ति भी फैलेगी। इस अभियान को विवेकानन्द से बढ़कर और कौन नेतृत्व दे सकेगा? क्या आप इस पथ पर हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं को नवजीवन प्रदान करने में आत्मनियोग कर सकेंगे? इस दिशा में जन-जागरण लाने के निमित्त संभवतः सर्वप्रथम आप अपनी अग्निमयी वाणी में एक पुस्तिका लिखेंगे, जिसके प्रकाशन का व्यय-भार मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

ससम्मान,

आपका विश्वस्त

जमशेदजी एन. टाटा

इस पत्र के उत्तर में स्वामीजी ने क्या लिखा, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु लगभग दो माह बाद ही जनवरी (१८९९ ई.) के अन्तिम सप्ताह में जमशेदजी के निकट सहयोगी व सलाहकार श्री बरजोरजी पादशाह स्वामीजी से मिलने को बेलुड़ मठ आये थे। वे इस शैक्षाणिक परियोजना के सिलसिले में अमेरिका व यूरोप के अनेक विश्वविद्यालयों का दौरा कर चुके थे, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि श्री टाटा ने ही स्वामीजी का उत्तर पाकर इस विषय पर विस्तार से चर्चा करने को उन्हें बेलुड़ मठ भेजा था। उनके बीच हुई चर्चा का विवरण हमें मालूम नहीं, परन्तु इस मुलाकात के कुछ काल बाद ही स्वामीजी द्वारा संस्थापित अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अप्रैल (१८९९

ई.) अंक में इस विषय पर एक सम्पादकीय प्रबन्ध निकला। यह लेख भगिनी निवेदिता ने संभवतः स्वामीजी के ही निर्देश पर लिखा था। 'मि. टाटा की परियोजना' शीर्षक उस प्रबंध का सार-संक्षेप इस प्रकार है—

"यदि भारतवर्ष को जीवित रहना है, प्रगति करना है और पृथ्वी के अगण्य राष्ट्रों की पंक्ति में अपना स्थान ग्रहण करना है, तो सर्वप्रथम हमें अपनी खाद्य समस्या को हल करना होगा। और इस तीव्र प्रतियोगिता के युग में मानव जाति के दो प्रमुख अन्नदाताओं कृषि तथा वाणिज्य के अंग-प्रत्यंग में आधुनिक विज्ञान का प्रकाश लाना ही इस समस्या का एकमात्र समाधान है। आजकल दिन-पर-दिन मानव के हाथ में नये-नये यन्त्र जुड़ते जा रहे हैं, जिनके साथ कार्य करने की प्रतियोगिता में हमारे पुराने तरीके नहीं टिक सकेंगे। जो लोग अपने बुद्धि-बल के द्वारा कम-से-कम शक्ति व्ययकर प्रकृति का अधिक-से-अधिक दोहन नहीं कर सकेंगे, उनकी उन्नति का पथ अवरुद्ध है, उनके भाग्य में पतन और विनाश ही लिखा है। उनके बचने का कोई उपाय नहीं।

"मि. टाटा की परियोजना भारतवासियों के हाथ में प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान प्रदान करने का पथ प्रशस्त करती है। प्रकृति निर्माणकर्त्री तथा ध्वंसकर्त्री दोनों ही है। वह उत्तम सेविका के साथ ही कठोर शासिका भी है, जिसका ज्ञान पाकर वे संभवतः उस पर नियंत्रण करके जीवन संग्राम में सफल होंगे। किसी-किसी का मत है कि यह योजना हवाई किले के समान काल्पनिक है, क्योंकि इसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए लगभग ७४ लाख की विपुल धनराशि की आवश्यकता है। इस आशंका का

उपयुक्त उत्तर यह है कि यदि एक व्यक्ति जो देश में सबसे धनी न होते हुए भी अकेले ३० लाख की रकम दे सकते हैं, तो क्या अन्य देशवासी मिलकर बाकी धनराशि नहीं जुटा सकेंगे? ऐसा सोचना अनुचित होगा, क्योंकि हमें विदित है कि यह योजना कितने महत्व की है।

"हम पुनः दुहराते हैं—आधुनिक भारत में सारे देश के लिए इतनी कल्याणकारी योजना अभी तक देखने में नहीं आयी है। अतः सभी देशवासियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने जातिगत व संप्रदायगत स्वार्थों से ऊपर उठकर इसे सफल बनाने में योग दें।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी ने अपनी प्रमुख शिष्या भगिनी निवेदिता को इस कार्य में उत्साहित किया था और बाद में चलकर भी उन्होंने इस योजना में काफी सहायता की थी। ब्रिटिश सरकार और विशेषकर लार्ड कर्जन इस योजना के विरोधी थे। अतः सरकार का अनुमोदन पाने के निमित्त श्री टाटा इंग्लैंड गये और भगिनी निवेदिता से मिले। भगिनी ने श्रीमती ओली बुल के साथ एक डीनर पार्टी का आयोजन किया था, जिसमें इस स्कीम के बारे में चर्चा करने को ब्रिटिश शिक्षा विभाग के सर जार्ज बर्डवुड को निमंत्रित किया गया था। इस वार्तालाप में जमशेदजी ने भाग लिया पर इससे भी सफलता न मिली। ब्रिटिश सरकार की टालमटोल की नीति देखकर भगिनी निवेदिता ने विश्व के विशिष्ट बुद्धिजीवियों के नाम एक अपील जारी कर इस विषय में जनमत पैदा करने का भी प्रयास किया था। प्रसिद्ध दार्शनिक बिलियम जेम्स तथा शिक्षाविद् पेट्रिक गेडेस ने इस संबंध में अपने अभिमत भेजे

थे। १८९८ ई. में प्रथम परिचय के बाद ही १८ मई, १९०४ को श्री टाटा का देहावसान होने तक तथा उसके पश्चात् भी इस परियोजना को भगिनी निवेदिता की सहानुभूति तथा सक्रिय सहयोग प्राप्त होते रहे।

जमशेदजी टाटा के देहावसान के बाद जब सरकारी समाचारपत्र 'पायोनियर' ने उन पर कटाक्ष करते हुए लिखा कि टाटा का असल उद्देश्य सरकार की सहायता लेकर अपना पारिवारिक ट्रस्ट बनाना था, तो भगिनी निवेदिता ने उसका गंभीर प्रतिवाद करते हुए 'स्टेट्समैन' में लिखा —"दो वर्ष पूर्व इण्डिया ऑफिस के सदस्यों तथा अन्य लोगों के बीच टाटा स्कीम को लेकर जो कान्फ्रेंस हुए, मुझे उनमें से बहुतों में उपस्थित रहने का अवसर मिला था।...सरकार ने एक बार सन्देह व्यक्त किया कि मि. टाटा द्वारा प्रस्तावित संपत्ति का मूल्य कम पड़ सकता है, पर श्री टाटा के मतानुसार इसके उल्टा होने की संभावना ही अधिक थी। परन्तु सरकार को सन्तुष्ट करने के लिए श्री टाटा ने अपने पुत्रों की पूर्ण सहमति लेकर निश्चित किया कि विश्वविद्यालय के लिए प्रस्तावित पूर्वोक्त दान को निरापद करने के लिए वे और भी तीस लाख की सम्पत्ति सुरक्षित कर देंगे, जो कि उनके परिवार के लिए प्राप्य थी। इससे यह सिद्ध होता है कि वे सरकार को एक ऐसी योजना में खींचना चाहते थे, जो देश की भलाई के लिए थी और इसके लिए वे अपने बाल-बच्चों को भूखमरी तक का शिकार बनाने को राजी थे।"

स्वामी विवेकानन्द जी की एक अन्य अमेरिकन शिष्या जोसेफिन मैक्लाएड ने बम्बई में जमशेदजी से मुलाकात करने के पश्चात् स्वामीजी को एक पत्र लिखा था,

जिसके उत्तर में उन्होंने १७ फरवरी १९०१ ई. को बेलुड़ मठ से लिखा था- "अभी-अभी तुम्हारा लम्बा-सा पत्र मिला।... मुझे प्रसन्नता है कि तुम श्री टाटा से मिली हो और तुम्हें वे दृढ़ और भलेमानुष प्रतीत हुए हैं। यदि मैंने अपने आपको काफी सशक्त अनुभव किया, तो अवश्य ही बम्बई आने का निमंत्रण स्वीकार कर लूँगा।" पर स्वामीजी का स्वास्थ्य बम्बई जाने के उपयुक्त न हो सका था।

सरकारी विरोध के कारण राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की यह योजना काफी काल तक खटाई में पड़ी रही। लार्ड कर्जन के इंग्लैंड वापस चले जाने पर १९०५ ई. में लार्ड मिण्टो गर्वनर जनरल होकर भारत आये और १९०९ ई में उन्होंने इस संस्थान के लिये अपनी स्वीकृति दे दी। १९११ ई. के प्रारम्भ में इस 'इण्डियन इन्स्टीच्यूट ऑफ साइन्स' के भवन की नींव मैसूर के तत्कालीन महाराजा के हाथों रखी गयी और जमशेदजी टाटा के पुत्रों ने अपने पिता के इच्छानुसार इस कार्य को पूरा किया। भवन-निर्माण के पश्चात् उसी वर्ष की २४ जुलाई से विद्यार्थियों का प्रवेश भी आरम्भ हो गया। बंगलोर से पाँच किलोमीटर पश्चिम में अवस्थित यह संस्थान आज भी सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में इंजीनियरी व प्रौद्योगिकी के शिक्षण व शोध का प्रमुख केन्द्र है। यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि इसने राष्ट्रोत्थान के लिए उपयोगी शिक्षा के प्रचार में ऐतिहासिक कार्य किया है। यद्यपि इस यज्ञ के ऋषि स्वामी विवेकानन्द तथा ऋत्विक जमशेदजी टाटा अपने जीवनकाल में इसे क्रियाशील न देख सके थे, परन्तु भगिनी निवेदिता ने अवश्य अपने जीवन के सांध्यकाल में भारतीय विज्ञान की उन्नति के इस यंत्र को कार्यरत देखकर ही अंतिम साँस ली थी।

हिन्दुत्व : एक जीवन-पद्धति

स्वामी आत्मानन्द

यह प्रश्न बार-बार चिन्तकों और विचारकों द्वारा पूछा गया और उत्तरित हुआ है कि 'हिन्दुत्व क्या है?' क्या यह एक अर्थहीन थोथा नाम है। जैसा कि कुछ लोगों का मत है? अथवा क्या यह मत-मतान्तरों की अधपकी खिचड़ी है? या कि अजीबोगरीब कर्मकाण्डों का एक बेहूदा मिश्रण है? या कि मात्र यह एक भौगोलिक अभिव्यक्ति या कि महज एक मानचित्र है?

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन अपने ग्रन्थ 'हिन्दुओं का जीवन दर्शन' में यह प्रश्न पूछते हुए कहते हैं कि यदि हिन्दू धर्म का कोई नियम है, तो वह युग युग में समाज समाज में बदलता रहा है। वैदिक काल में अगर यह कुछ था, तो ब्राह्मणकाल में कुछ दूसरा हो गया और बौद्ध काल में कुछ तीसरा ही। शैवों के लिए इसका अर्थ कुछ और है, तो वैष्णवों के लिए कुछ दूसरा और शाक्तों के लिए कुछ तीसरा। उनके मत में 'हिन्दू' शब्द सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर बसने वाले सभी सम्प्रदाय होने का सामान्य अभिधेय है, जो फारसियों से उन्हें प्राप्त हुआ है।

हिन्दू धर्म का यह लचीलापन ही उसकी जीवन-पद्धति है और यह जीवन-पद्धति ही उसका जीवन रस है। उसके इस लचीले स्वरूप को न समझ पानेवाले लोग उसके सबंध में ऐसी धारणा का पोषण करते हैं कि यह कोई उस प्रकार का धर्म नहीं है, जिस प्रकार दुनिया के अन्य धर्म हैं। अब यह तो सही है कि हिन्दू धर्म उस अर्थ में 'रिलीजन' नहीं है। जिस अर्थ में ईसाइयत (क्रिश्चियनिटी) एक 'रिलीजन' है।

यह उस अर्थ में 'मजहब' भी नहीं है, जिस अर्थ में 'इसलाम' एक मजहब है। वह तो सही अर्थों में संस्कृत भाषा के 'धर्म' शब्द को ध्वनित करता है।

'धर्म' शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ होता है धारण करना। अतः 'धर्म' शब्द से वह शक्ति ध्वनित होती है, जो अलग अलग इकाइयों को जोड़ती है। हिन्दू धर्म ने ठीक यही किया है। उसने विभिन्न मानव इकाइयों को जोड़ने का कार्य किया है—वह विभिन्न मानवरूप मनकों में पिरोये गये सूत्र के समान है। हिन्दू धर्म की उपमा शरीर से दी जा सकती है, जिसके सनातनी, शाक्त, शैव, गाणपत्य, जैन, बौद्ध, सिख, आर्यसमाज आदि अलग-अलग अंग-उपांग हैं। समय समय पर विभिन्न अंगों के नये नये नाम बनते रहते हैं और कालप्रवाह से कुछ पुराने नाम मिट भी जाते हैं। पर वे सब के सब उसी एक शरीर के अंग हैं। उसका यह लचीलापन ही है, जिसने आधे संसार को अपने प्रभाव के दायरे में बाँधकर रखा था। यही कारण है कि चीन और जापान, तिब्बत और स्याम, बर्मा और लंका सब भारत को अपना आध्यात्मिक घर मानते रहे हैं। हिन्दू धर्म का इतिहास कोई आज का नहीं है, वह पाँच हजार वर्ष से भी अधिक पुराना है, जिसकी धारा समय समय पर मन्द और प्रायः अवरुद्ध होते हुए भी आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। हिन्दू धर्म ने अपने ऊपर जितने आक्रमण झेले हैं, उतने संसार के और किसी धर्म ने नहीं। भारत की एक हजार साल की गुलामी में हिन्दू धर्म को सब प्रकार से रौंदकर नष्ट कर देने की कोशिशें की गयीं, पर उसके भीतर ऐसा कुछ है, जिसने उसे मिटने नहीं

दिया। जहाँ विश्व के अन्य कई राष्ट्र कुछ वर्षों की गुलामी में ही दुनिया के नक्शे से मिट गये, हमारा यह भारत देश खण्डित होता हुआ भी आज अजेय होकर खड़ा है। इसका कारण यह है कि भारत का धर्म, जिसे विश्व ने हिन्दू धर्म कहकर पुकारा, चार या पाँच सहस्राब्दियों के आध्यात्मिक विचारों और अनुभूतियों की भट्ठी में तपकर खरा निकला है। यद्यपि इतिहास के प्रारंभ से विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के लोग भारत में आते रहे हैं, पर हिन्दू धर्म अपनी प्रधानता बनाये रखने में समर्थ रहा है। यहाँ तक कि ऐसे दूसरे धर्म भी जिन्हें राजशक्ति का सहारा था, दबाव डालकर बहुत संख्या में भारतीयों को अपने मत में दीक्षित नहीं कर सके। हिन्दू संस्कृति में कुछ ऐसी प्राणशक्ति है, जो स्वभावतः दूसरे अधिक शक्तिशाली प्रवाहों में भी नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन के मत में, हिन्दू धर्म की इस प्राणशक्ति की परख-पड़ताल करना उसी तरह अनावश्यक है, जिस तरह लहलहाते वृक्ष को फाड़कर यह देखना कि उसके भीतर रस का संचार हो रहा है या नहीं।

हिन्दू धर्म को यह प्राणशक्ति अपनी जीवन-पद्धति से मिली है। यह जीवन-पद्धति चार स्तम्भों पर खड़ी है। पहला स्तम्भ कहता है कि जीवन का एक निश्चित लक्ष्य है और वह है सत्य या ब्रह्म। इस लक्ष्य को अन्य बहुतेरे नामों से भी पुकारा गया है। दूसरा स्तम्भ कहता है कि इस लक्ष्य को पाना ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है। इसलिए मनुष्य को अपनी जीवन-संरचना ऐसी करनी चाहिए, जिससे वह इस लक्ष्य को पा ले सके। तीसरा स्तम्भ कहता है कि जीवन-संरचना में नारी का वही स्थान है जो नर को। नर और नारी पक्षी के दो डैनों के समान हैं। यदि दोनों डैने

समान रूप से स्वस्थ और बली हों, तभी पक्षी उड़ पाता है, अन्यथा वह फड़फड़ाने लगता है। चौथा स्तम्भ कहता है कि इस लक्ष्य को पाने के अनन्त पथ हो सकते हैं, इसलिए कभी पथ को लेकर विवाद नहीं करना चाहिए। हम अपने पथ पर चलें और यदि दूसरे के लिए सहायता का हाथ बढ़ा सकते हों तो बढ़ाएँ, पर यदि न बढ़ा सकते हों तो शुभ-कामनाएँ दें, पर निन्दा के शब्द तो अधरों पर न लाएँ। ईश्वर असीम है और मनुष्य का मन सीमित। इसलिए कोई भी मत-सम्प्रदाय ईश्वर को समग्र और निर्दोष रूप से जानने का दावा नहीं कर सकता। जो सम्प्रदाय ऐसा करते हैं, वे अपनी बुद्धि का ओछापन ही प्रकट करते हैं। हिन्दू जीवन-पद्धति का यह विलक्षण उदारता रूप जो चौथा स्तम्भ है, वह एक ओर जहाँ उसकी कमजोरी के रूप में देखा जाता है, वहीं दूसरी ओर वह उसकी अजेय शक्ति भी है। कमजोरी इस अर्थ में कि उसने गोरी जैसे निर्मम, हृदयहीन लुटेरों के साथ भी सदाशयता का व्यवहार किया; और अजेय-शक्ति इस अर्थ में कि उसने भिन्न भिन्न इकाइयों को एक सूत्र में गूँथकर, उसे बिखरकर नष्ट होने से बचा लिया। उसकी इस जीवन-पद्धति ने उसे आघातों को सहने की शक्ति प्रदान की। उसने कभी ऐसी घोषणा नहीं की कि मेरा ईश्वर ही एकमात्र सच्चा ईश्वर है, या यह कि मेरा पैगम्बर या मसीहा ही एकमात्र पैगम्बर या मसीहा है, या यह कि मेरा धर्मग्रन्थ ही एकमात्र ईश्वर की किताब है और दूसरों के धर्मग्रन्थ थोथे कहानी-किस्से हैं। धर्म के क्षेत्र में कट्टरता का सूत्रपात उस धारणा से होता है कि धर्मपरायणता आप्त वाक्यों के प्रति आँख मूँदकर श्रद्धा रखने को ही कहते हैं।

और ऐसी धारणा, डॉ. राधाकृष्णन के मत से, यूरोप में ईसाई धर्मशास्त्र द्वारा आचरित मार्ग के दुर्भाग्यपूर्ण उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई है। यही कट्टर धारणा इसलाम का भी आधार बनती है। इसके फलस्वरूप विश्व ने धर्म के नाम पर खून का दरिया बहता देखा है। इतना खून बहाकर भी क्या मजहबों के मनसूबे पूरे हुए? हुआ यही कि उन्हीं मजहबों के भीतर अलग-अलग मजहब बनकर एक-दूसरे को काटने लगे। यूरोप और पश्चिम एशिया का इतिहास कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट तथा शिया और सुन्नी की लड़ाइयों का रक्तारंजित इतिहास है।

हिन्दू धर्म ने मतवादों के इन झगड़ों को एक अनूठे ढंग से सुलझाने की चेष्टा की है। यह अनूठा ढंग हिन्दुओं की जीवन-पद्धति है, जिसमें उन समस्त चिन्तन-सारणियों के लिए स्थान है, जो परम सत्य को केन्द्रित करके होते हैं। डॉ राधाकृष्णन हिन्दुओं की जीवन-पद्धति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हिन्दुओं का धर्म-दर्शन प्रयोगात्मक मूल से प्रारंभ होता है और वहीं लौट आता है। यह प्रयोगात्मक आधार उतना ही व्यापक है, जितना स्वयं मानव प्रकृति है। दूसरे धार्मिक मतों का प्रारंभ कुछ विशेष परिगृहित तथ्यों के ऊपर से होता है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म को लीजिए। इसका आधार है मानवीय विवेक के ऊपर ईसा मसीह की पूर्ण प्रामाणिकता का स्वयसिद्ध होना और मानवात्मा के उद्धार के लिए उनकी योग्यता और तत्परता के सबध में पूर्ण विश्वास। ख्रीष्टागम ज्ञान केवल उन्हीं के अनुकूल पड़ता है, जो एक विशेष ढंग की आध्यात्मिक अनुभूति रखते हैं या स्वीकार करते हैं। वे दूसरी अनुभूतियों

को भ्रमपूर्ण और दूसरे आगमों को अपूर्ण मानते हैं। इसलाम धर्म के संबंध में भी यही बात लागू होती है। परन्तु तथ्य के प्रति आस्था होने के कारण हिन्दू धर्म इस प्रकार के धोखे में नहीं पड़ा है। हिन्दू विचारक बिना हिचकिचाहट के दूसरों की बातें स्वीकार करते हैं और अपनी बातों की तरह उन्हें भी ध्यान देने योग्य समझते हैं। अगर सभी देशों और सभी वर्गों के मनुष्य, जो सभ्यता के नाना स्तरों पर खड़े हैं, ईश्वर की ही सन्तान हैं, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसके विस्तृत कृपाक्षेत्र के भीतर सब के सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस सर्वोच्च सत्ता की जानकारी के लिए उसी से ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा उसी के प्रेम की छत्रछाया में पलते हैं। हिन्दू जाति ने जब इस सत्य का अनुभव किया कि दूसरे लोगों ने भी ईश्वर-प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाकर विभिन्न स्तरों से उसकी प्राप्ति की है, तो सबों को उसने उदारतापूर्वक अपना लिया और कालक्रम में उनका स्थान ठीक तरह से निर्धारित कर दिया। इस जाति ने विभिन्न समुदायों के विशेष विशेष आयामों का उनकी ही उन्नति के लिए उपयोग किया, क्योंकि उनकी रुचि और प्रतिभा के विकास के लिए, उनके जीवन और विचारों को समृद्ध बनाने के लिए, उनके भावावेगों को जागृत करने के लिए और उनके कार्यों को प्रेरणा देने के लिए वे ही एकमात्र साधन थे।

इस प्रकार हिन्दू धर्म कोई निश्चित धर्ममत नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक विचारों और साधनाओं का विशाल किन्तु सूक्ष्मता से एकीभूत पुंज है। हिन्दू जाति के विभिन्न सम्प्रदायों में जो भेद दिखाई पड़ते हैं, वे न्यूनाधिक रूप से

ऊपरी हैं। हिन्दू जाति स्पष्टतः एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में रही है, जिसका सामान्य इतिहास, साहित्य और सभ्यता है। विनसेंट स्मिथ, 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' की भूमिका लिखते हुए कहते हैं, "निःसंदेह भारत में एक आधारभूत आन्तरिक एकता है। यह एकता भौगोलिक पृथकता या राजनीतिक श्रेष्ठता से पैदा होनेवाली एकता से कहीं अधिक गंभीर है। यह एकता असंख्य परस्पर-विरोधी रक्त, रंग, भाषा, पोशाक, रीति-रिवाज तथा सम्प्रदाय के घेरे से बहुत ऊपर उठी हुई है।"

और यही हिन्दू धर्म की वह विशेषता है जो इसे प्रचलित अर्थवाले धर्म के रूप में कम, जीवन-पद्धति के रूप में अधिक प्रस्तुत करती है।

सर्वोच्च प्रार्थना

इहलोक या परलोक में पुरस्कार की प्रत्याशा से ईश्वर से प्रेम करना बुरी बात नहीं, परन्तु केवल प्रेम के लिए ही ईश्वर से प्रेम करना सबसे अच्छा है और उनसे यही प्रार्थना करना उचित है, "हे भगवन्, मुझे न तो सम्पत्ति चाहिए, न सन्तति और न विद्या। यदि तेरी इच्छा हो तो मैं सहस्त्रों बार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ूँगा; पर हे प्रभो, केवल इतना ही करना कि मैं फल की आशा छोडकर तेरी भक्ति करूँ, केवल प्रेम के लिए ही तुझ पर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो।"

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

तारासुन्दरी देवी

(श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द रामकृष्ण मठ व मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। प्रस्तुत संस्मरण बँगला मासिक 'उद्बोधन' के मई/जून १९२३ अंक में प्रकाशित हुए थे। जहाँ से अनुवाद कर हम इन्हें प्रस्तुत कर रहे हैं।—सं.)

मैं बचपन से ही थियेटर में काम करती थी। नाट्याचार्य महाकवि स्वर्गीय गिरीशचन्द्र घोष के अधीन मैंने काफ़ी काल तक अभिनय किया। शुरू से ही मैं गिरीशबाबू के मुख से श्रीरामकृष्ण की बातें सुना करती थी। जो भी थियेटर गिरीश बाबू के संपर्क में आया उसमें श्रीरामकृष्ण का एक चित्र लगा रहता था और हम सभी अभिनेता तथा अभिनेत्रीगण रंगमंच पर जाने के पूर्व चित्र को प्रणाम कर लेते थे। जहाँ तक मेरा ख्याल है, अब तो यह बंगाल के प्रत्येक थियेटर की प्रथा ही बन चुकी है।

इस प्रकार बाल्यकाल से ही हमें श्रीरामकृष्ण-प्रसंग सुनने का सुयोग मिला था और बेलुड़ मठ में उत्सव आदि देखने जाने की बीच-बीच में बड़ी इच्छा होती थी। एक बार मैंने गिरीश बाबू से वहाँ जाकर एक उत्सव देखने की अनुमति माँगी। उनका उस समय का उत्तर मुझे अब भी स्पष्ट रूप से स्मरण है, "अभी नहीं, ठाकुर की इच्छा हुई तो बाद में कभी जाना।" अतः इच्छा होते हुए भी मैं कभी बेलुड़ मठ न जा सकी थी।

फिर इसके काफ़ी दिनों बाद, अब से शायद छः वर्ष पूर्व (१९१६ ई. में) मेरा पहली बार मठ जाना हुआ। उस

समय मेरा मन बड़ा दुःखी था, अशांति से परिपूर्ण था, कुछ भी अच्छा नहीं लगता था और मैं एक जगह पर स्थिर न रह पाती थी। जगत् विषवत प्रतीत होता था। मैंने अनेक तीर्थों एवं मन्दिरों का भ्रमण किया। ऐसी ही मनःस्थिति में घूमते हुए एक दिन मैं बेलुड़ मठ जा पहुँची। बंगाल रंगमंच की सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री श्रीमती विनोदिनी भी मेरे साथ थीं। सात वर्ष की आयु में जब मैंने अभिनय जगत में प्रवेश किया तो उस समय ये ही मुझे नाट्यशाला में ले गयी थीं और पहली बार मठ से जाते समय भी वे ही मेरी सगिनी थीं।

मेरे मठ में पहुँचते दोपहर हो गया था। महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) मध्याह्न का भोजन समाप्त कर अब विश्राम करने जाने वाले थे। हमने पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया। हमें देखते ही महाराज बोले, "अरे, विनोद आयी है, तारा आयी है! आओ, आओ! इतनी देर से आयी! मठ में खाना-पीना तो हो चुका! पहले से खबर भेज दिया होता। आओ बैठो।" देखा, वे हमारे लिए बड़े ही चिन्तित हैं। उन्होंने तुरन्त प्रसाद मँगवाया। पूरी बनवाने की व्यवस्था की। मन्दिर में प्रणाम करने के पश्चात् हम दोनों ने मठ में प्रसाद पाया। महाराज का विश्राम फिर नहीं हो सका। एक साधु को बुलाकर उन्होंने कहा— "इनको मठ में कहाँ क्या है, सब दिखा दो।" बाद में पता चला कि जिन संन्यासी ने हमें मठ का परिदर्शन कराया उनका नाम था स्वामी अमृतानन्द।

साधु-संन्यासियों के प्रति मेरी बचपन से ही श्रद्धा-भक्ति थी, पर इसके साथ ही मैं उनसे डरती भी थी। मैं अपवित्र थी, पतिता थी, कहीं कोई अपराध न हो जाय, इस भय से

मैंने संकोचपूर्वक डरते-डरते महाराज की चरणधूलि ली। परन्तु महाराज का वार्तालाप, उनका व्यवहार, हमारे लिए उनकी चिन्ता तथा यत्न देखकर हमारा भय-संकोच सब न जाने कहाँ चला गया। महाराज ने पूछा— "तुम यहाँ आती क्यों नहीं?" मैंने कहा— "भय के कारण मैं मठ में नहीं आ पाती थी।" महाराज ने बड़ी उत्कंठा के साथ कहा —"भय! ठाकुर के पास आना, इसमें भय की क्या बात है? हम सभी ठाकुर के ही तो बच्चे हैं। भय कैसा? बेटी, जब इच्छा हो आना। भगवान बाहर से नहीं, अन्तर देखते हैं। उनके साथ कोई संकोच करने की आवश्यकता नहीं।" स्वामी प्रेमानन्द उस समय वहीं उपस्थित थे, वे भी आश्वासन देते हुए बोले — "ठाकुर के पास आने में क्या रुकावट हो सकती है।"

शाम को चाय पीकर हम मठ से वापस लौटीं। हमारे विदा लेते समय महाराज ने कहा, "बीच-बीच में आती रहना। एक दिन समय पर आकर अच्छी तरह प्रसाद पाकर जाना।" यही उनके साथ मेरी प्रथम भेंट थी और यही मुझे जीवन में प्रथम बार सच्चे स्नेह का आस्वादन मिला।

इसके कुछ दिनों बाद ही महाराज 'रामानुज' नाटक का अभिनय देखने थियेटर आये। नाटक समाप्त हो जाने पर मैंने महाराज की चरणधूलि ली। महाराज ने आशीर्वाद दिया— "बहुत अच्छा हुआ! खूब भक्ति हो।" मैं कृतकृत्य हुई।

दिन बीतते गये, पर मुझे शान्ति नहीं मिली। मैं पूर्ववत ही भटकती रही, कहीं भी आश्रय न मिला, मैं मनस्ताप की ज्वाला में जलती रही। सब कुछ सूना-सूना सा लगता था।

जगन्नाथजी के दर्शन की लालसा से मैं पुरीधाम गयी। वहाँ पर मैं भुवनेश्वर के एक धर्मशाला में ठहरी थी। संवाद मिला कि महाराज भुवनेश्वर के मठ में ही निवास कर रहे हैं। अतः मैं पुनः उनका दर्शन करने गयी। महाराज ने इस बार पुनः बैठने व खाने को कहा, वैसा ही स्नेह, यत्न और आग्रह दिखाया। वे बोले, "अरे, धूप से तुम्हारा चेहरा कुम्हला गया है। यहाँ स्वास्थ्य सुधारने आयी हो तो फिर धूप में नाहक निकली। कहाँ खाती हो? कल से मठ में ही प्रसाद पाना। क्या खाना पसन्द है तुम्हें? और बेटी, हम लोग तो साधु-संन्यासी हैं, फकीर हैं, भला क्या खिला सकेंगे? फिर यहाँ मिलता भी क्या है?" ऐसी ऐसी ही उन्होंने और भी अनेक बातें कहीं। मैं तो अवाक् रह गयी। ये भला कैसे साधु हैं। एक परम मायामुग्ध गृहस्थ भी तो अपने बच्चों के लिए इतना अधीर नहीं होता! और मैं हूँ भी कौन! समाज में मेरा स्थान भी कहाँ है? जगत् से जिसे घृणा एवं तिरस्कार के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्य नहीं है, जिसके न कोई मित्र हैं, न पिता, न सगे-संबंधी— इतना बडा यह संसार जिसके लिए पराया घर है; स्वार्थ के बिना जिसके साथ कोई बात भी नहीं करता, कोई मुड़कर भी नहीं देखता, इस दुनिया में जिसका कोई भी अपना नहीं है। परन्तु आज स्वामी ब्रह्मानन्द ने, श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र ने, सर्वत्यागी सर्वपूज्य सर्वमान्य महाराज ने कितने आकुल आग्रह के साथ, कितने अप्रत्याशित यत्न के साथ मुझे अपना बना लिया है। पिता को देखा नही; सुना है कि जब मैं मातृगर्भ में थी तभी उनका देहान्त हो गया। मन में आया कि क्या इसी को पितृ

स्नेह कहते हैं, या यह उससे भी बढ़कर कुछ है? मेरी आँखें भर आयीं और जीवन के सारे आक्षेप अश्रु-बिन्दुओं के साथ घुलमिल कर भूमि पर पतित होने लगे। लगा कि यही तो एकमात्र शांति का स्थान है। ये ही तो मेरे एकमात्र सुहृद हैं, जिनकी दृष्टि में मैं पतिता नहीं, अस्पृश्या नहीं और घृणित भी नहीं। मैं महाराज की पुत्री हूँ। जिसका कोई नहीं, उसके महाराज हैं। वे ही मेरे पिता हैं, मेरे स्वर्ग हैं, मेरी शांति हैं, और मेरे भगवान हैं। मन की ज्वाला शान्त हुई, महाराज ने कितनी ही बातें कहीं, सभी का स्मरण नहीं है। परन्तु जो स्मरण हैं, वे ही मेरे जीवन का सम्बल हैं। उन्होंने कहा था, "बेटी, देखती हो न, संसार में कितनी ज्वाला है! पर ऐसा न समझना कि हमने कष्ट नहीं उठाये। जब मैं ठाकुर के पास आया तो आयु कम थी। साधन-भजन करता था, परन्तु सर्वदा शान्ति नहीं मिलती थी। मन में कितनी ही तरह की बातें उठा करती थीं, फिर अनेकों प्रकार के आकर्षण भी थे। बीच-बीच में सोचता, 'कहाँ! आनन्द तो कुछ मिला नहीं! एक दिन ऐसे ही बैठा-बैठा विचार कर रहा था, सोच रहा था कि अब यहाँ से चला जाऊँगा और फिर ठाकुर से मिलूँगा भी नहीं।' तभी देखा कि वे सामने ही खड़े हैं। वे बोले, 'क्या सोच रहा है? यही न कि बडा कष्ट है!' मैं निरुत्तर रहा। ठाकुर ने मेरे सिर पर हाथ रख दिया और मेरा मनस्ताप दूर हो गया। वह एक बड़ा ही अद्भुत आनन्द था।"

मेरे भी मुख से सहसा निकल पड़ा, "बाबा, मेरे भी बडी ज्वाला है, बड़ा ताप है, सहन नहीं पर पाती, इधर-उधर भाग-दौड़ कर रही हूँ। आप भी ठाकुर के समान ही मेरी

ज्वाला शान्त कर दीजिए।" महाराज स्नेहमयी वाणी में कहने लगे, "ठाकुर को पुकारना बेटी, भय की कोई बात नहीं। वे इसलिए तो आए थे। उनके नाम का जाप करो। पहले थोड़े दिन कष्ट होगा, फिर ठाकुर ही सब ठीक कर देंगे। भय की कोई बात नहीं बेटी, भय की कोई बात नहीं! देखोगी, बड़ा आनन्द मिलेगा, बड़ा सुख मिलेगा।"

सुना है कि चैतन्य महाप्रभु और नित्यानंद हम जैसे पतितों के उद्धारार्थ ही धरा पर आये थे और आज मुझे महाराज की अहैतुक कृपा का, घृणा-द्वेषरहित कृपा का अनुभव हुआ। मानो वे मेरे समान पतिताओं का उद्धार करने को ही आये थे। "कोई भय नहीं बेटी, ठाकुर के बच्चों को भय कैसा!" — क्या ही अद्भुत सान्त्वना-वाणी है, क्या ही आश्वासन है! मानों वे हाथ बढ़ाकर कह रहे हैं, "अरे, कहाँ कौन पतित हो, कौन तापित हो, आओ। उनकी शरण लो। भय कैसा! ठाकुर जो हैं।"

ठाकुर से मेरी प्रार्थना है कि मैं इन महावाक्यों को जीवन के अन्तिम क्षण तक न भूलूँ।

मुक्ति कब?

यहाँ, इस जीवन में, यथार्थ भोग-सुख है ही नहीं। संसार में यही सबसे पुराना उपदेश है कि यहाँ भोग-सुख का अन्वेषण वृथा है; पर मनुष्य के लिए इसे समझना अत्यन्त कठिन है, किन्तु जब वह सचमुच यह पाठ सीख लेता है, तब वह जगत्-प्रपंच से अतीत होकर मुक्त हो जाता है।

—स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण-वन्दना

'मधुप'

हमारे रामकृष्ण सुखधाम ।
चिन्मय सुन्दर नरकायाधर
रूप अनूप ललाम ।। हमारे०।।

मन वाणी से अगम अगोचर
व्याप रहे वे सर्व चराचर;
सबके अन्तर बैठ चलाते

जग के सारे काम ।। हमारे०।।

आधि-व्याधि में जनम मरण में
द्वन्द्व-दोषमय इस जीवन में;
घोर हताशाओं के क्षण में
देते हैं बिसराम ।। हमारे०।।

लेकर मन में सुख की आशा,
भटक रहा क्यों मरु में प्यासा;
तेरे दुःख अज्ञान मिटाने
आए कृपानिधान ।। हमारे०।।

दीनबन्धु सहृदय करुणामय
करते सबको शुद्ध निरामय
उनके चरणों में अर्पित हो
श्रद्धा भक्ति प्रणाम ।। हमारे०।।

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(बंगला पत्रों से संकलित एवं अनुदित)

—३४—

यह जानकर दुख हुआ कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है। फिर और भी दुख की बात यह है कि चिकित्सा के बावजूद कोई लाभ नहीं हो रहा है। तो भी उनका भजन मत छोड़ना। शरीर स्वस्थ रहे या न रहे, उन्हें पुकारने में चूक न हो, क्योंकि ठाकुर का उपदेश है, "दुख जाने, शरीर जाने; पर मन तू आनन्द में रह।" देखना आनन्दमय का स्मरण करने में भूल न हो।

जो लोग सोचते हैं कि पहले स्वास्थ्य सुधरे, फिर भगवान को पुकारेंगे, उनका पुकारना कभी न होगा। व्यासदेव कहते हैं—

य इच्छति हरिः स्मर्तुं व्यापारान्तर्गतैरपि।
समुद्रे शान्तकल्लोले स्नातुमिच्छति दुर्मतिः॥

अर्थात् जो सोचता है कि अमुक समस्या दूर हो जाय फिर निश्चिन्त मन से भगवान का स्मरण-मनन करूँगा, उसकी दशा कैसी होती है?— वैसी ही मानो कोई समुद्र-तट पर खड़ा होकर कहे कि तरंगे थम जाने के बाद मैं स्नान करूँगा। समुद्र की तरंगें कभी शान्त नहीं होतीं। अतः उसमें स्नान कैसे होगा? जो लोग तरंगों के भीतर ही स्नान करते हैं, उन्हीं का स्नान हो पाता है। इसी प्रकार जो लोग सुख-दुख, रोग-शोक, दैन्य-दारिद्र्य आदि के बीच ही भगवान का भजन कर लेते हैं, केवल उन्हीं का भजन हो पाता है; अन्यथा वे यही कहते रहेंगे कि सुयोग मिलने पर भगवान को पुकारेंगे। उनका पुकारना कभी न होगा, क्योंकि जीवन में सब प्रकार का सुयोग मात्र कुछ ही लोगों के भाग्य में होता है। रोग, शोक, ताप, यंत्रणाएँ — तो जीवन में

लगी ही रहेंगी। हर प्रकार की अवस्था में जो उन्हें पुकार सकेगा, बस उसी का पुकारना होगा, अन्यथा काम बनना अत्यन्त कठिन है।

तुम्हारे स्वास्थ्य के बारे में मुझे चिन्ता है। ठाकुर से मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम स्वस्थ शरीर में उनका भजन आदि कर सको। वे मंगलमय हैं — सदा मंगल ही कर रहे हैं। हम भले ही इसे समझें या न समझ सकें, परन्तु इस विश्वास को वे अचल-अटल रखें—तन-मन-वाणी से यही उनसे प्रार्थना है।

—३५—

प्रारब्ध का भोग किसी भी तरह नहीं मिटता, परन्तु निःसंदेह बुद्धिमान का कर्त्तव्य है कि वह शरीर की ओर ज्यादा मन न देकर भगवान का चिन्तन किए जाये। ठाकुर को ऐसा ही करते देखा और कहते सुना है, "दुःख जाने, शरीर जाने मन, तू आनन्द में रह।" अर्थात् हे मन, यदि शारीरिक अस्वस्थता आदि की वजह से कष्ट हो, तो भी तुम अधीर न होना; शरीर को जैसा भोगना है, वह तो भोगेगा ही, पर तुम आनन्द में यानी सच्चिदानन्द में चित्तनियोग करो। शरीर के लिए चिन्तित न होना; शरीर का जो होना है, हुआ करे, परन्तु इस कारण तुम भगवान को न भूल जाना। हम लोग भी उनके द्वारा प्रदर्शित इस पथ पर चलकर अपना जीवन धन्य कर सकें, यही उनसे मेरी हार्दिक प्रार्थना है।

—३६—

जहाँ भी रहो, प्रभु के शरणागत होकर रहने से कोई भय नहीं। उनके स्मरण-मनन में दिन बीतें, इसी में कल्याण है। दूसरे किसी भी कार्य में भलाई नहीं है। उन्हीं को अपना पिता, माता, भाई, सगा-सम्बन्धी समझना होगा। एकमात्र

वे ही अपने हैं, इसका निश्चय रहे तो सारे भयों से छुटकारा मिल जाता है और सुख-शान्ति की उपलब्धि होती है। दूसरा कोई उपाय नहीं। उनके चरण-कमलों में अपने आपको पूर्णतया समर्पित करना होगा। ऐसा होने पर फिर कोई चिन्ता नहीं रह जाएगी। पूरी तौर से उनके हुए बिना काम नहीं चलेगा। उनकी कृपा से सब कुछ हो सकता है। सर्वदा उनसे प्रार्थना करते रहना और यथासाध्य उस प्रार्थना के अनुरूप कार्य करने का भी प्रयास करना। ऐसा होने पर वे दया करेंगे। उनकी दया तो है ही, बात यह है कि हम उसे समझ नहीं पाते। वे मंगलमय हैं और हमारा मगल कर रहे हैं — इस विश्वास के दृढ़ होने पर ही सारे कष्टों का अवसान होता है।

—३७—

शरीर के साथ रोग-शोक तो लगा ही रहता है। पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति महापुण्य के फल से होती है।

रोगशोकपरितापबन्ध नव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम्।।*

यह शास्त्र की वाणी है तथापि भगवान के शरणागत होकर चुटकी बजाते हुए, "दु:ख जाने, शरीर जाने ; मन, तू आनन्द में रह"— कहने पर काफी कुछ बचा जा सकता है। 'हाय-हाय' करने से कोई लाभ नहीं होता, बल्कि उससे कष्ट और भी बढ जाता है और साथ ही परमार्थ भी विस्मृत हो जाता है। भोग की इच्छा रहे तो बुरा स्वास्थ्य बड़ा ही दुखदायी होता है। साधन-भजन के लिए मन को ही ठीक

---

* रोग, शोक, दु:ख, बन्धन और व्यसन — ये मनुष्य के निजकृत अपराध रूपी वृक्ष के फल हैं। (हितोपदेश)

रखने की आवश्यकता है, शारीरिक स्वास्थ्य उतना महत्वपूर्ण नहीं। मन से ही भजन होता है और शुद्ध कर्म से मन अच्छा रहता है, फिर शरीर चाहे जिस हालत में भी रहे। इसलिए कर्म को शुद्ध रखने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। शरीर तो थोड़ा-थोड़ा करके प्रतिदिन ही क्षय हो रहा है, इसे कोई रोक नहीं सकता, परन्तु मन स्थायी है। अर्थात् शरीर बारम्बार उत्पत्ति एवं विनाश को प्राप्त होगा, परन्तु मन पूर्ण ज्ञान होने तक बना रहेगा और पुन: पुन: देह धारण करेगा। अत: मन:शुद्धि के लिए प्रयास करना ही वास्तविक कर्तव्य है।

द्वैत या अद्वैत — चाहे जो भी कहो, सब इस मन पर ही आधारित हैं। आत्मभाव यानी मैं आत्मा हूँ — इसकी उपलब्धि हो जाने पर अद्वैत स्वत: ही सिद्ध हो जाता है। द्वैतवाद शरीर-मन के रहने तक ही है। यदि अपने बारे में आत्मा के रूप में बोध हो, तभी द्वैतवाद का लोप होता है। तब एकमात्र चैतन्य सत्ता ही विराजती है। जितनी भी गड़बड़ियाँ हैं, सब उपाधि को लेकर हैं। मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, अमुक जाति का हूँ, मुझमें अमुक गुण हैं आदि सब द्वैतवाद को जगाते हैं। और मैं शरीर नहीं, मन नहीं बुद्धि नहीं, मैं शुद्धमपापविद्धं सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा हूँ— इस प्रकार चिन्तन करने पर द्वैत भला कहाँ टिक पाता है? परन्तु केवल मुख से कहने से नहीं होगा, उपलब्धि चाहिए। इस समय जैसा दृढबोध अपने नाम के बारे में है — कि यह नाम ही मैं हूँ या यह मेरा नाम है, वैसा ही दृढबोध हो उठेगा। इस अद्वैतवाद की उपलब्धि के लिए ही द्वैतवाद की उपासना है। द्वैतवाद हमारे स्वभाव में है, परन्तु भगवान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़कर उसे क्रमश: शुद्ध और शुद्धतर

बनाना होगा। इस समय संसार के साथ हमारा जो नाता है, उसे तोड़कर ईश्वर के साथ जोड़ लेना होगा। यह ठीक-ठीक कर पाने से द्वैत अपने आप ही छूट जाएगा। तब केवल ईश्वर — केवल परमात्मा ही रह जाएँगे। इस क्षुद्र 'मैं' का तिरोभाव हो जाएगा। उपासना के द्वारा द्वैत से होते हुए अद्वैत की उपलब्धि इसी को कहते हैं।

और भी एक तरीका है और वह है 'नेति नेति' विचार के द्वारा अद्वैतभाव में पहुँचना। अभी — इसी क्षण सब कुछ अस्वीकार कर देना। यथा, मैं शरीर नहीं, मैं मन नहीं, मैं बुद्धि नहीं, मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा हूँ। शरीर का नाश होने पर भी मेरा नाश नहीं होता। सुख-दुःख आदि देह के धर्म हैं, मेरे नहीं। मैं अवाङ्मनसगोचर, पूर्ण, एक, अद्वितीय आत्मा हूँ। इसका निश्चय हो जाना अद्वैतभाव कहलाता है। परन्तु यह क्या आसान बात है? कहने मात्र से ही तो नहीं हो जाता। ठाकुर कहा करते थे, "आँखें मूँदकर बारम्बार 'काँटा नहीं, चुभन नहीं' दुहराने मात्रा से क्या होगा? हाथ लगाते ही तो गड़ता है। 'मैं ख हूँ' कहने से क्या होगा? टैक्स देते समय तो जान पर आती है।"* अतः पूर्ण अद्वैतभाव सबके लिए नहीं हैं। तभी तो गीता के बारहवें अध्याय में भगवान अर्जुन से कहते हैं —

अव्यक्तो हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते। †

---

* श्रीरामकृष्ण के पास आने वाले एक भक्त कृष्णकिशोर कहा करते थे, "मैं ख (आकाश) हूँ।" एक बार टैक्स अदा न कर पाने पर उन्हें कंपनी से नोटिस मिला कि उनके घर के सामानों की नीलामी करके टैक्स की भरपाई की जाएगी, तो वे बडी चिन्ता में पड गये। इसी घटना के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने उपरोक्त बात कही थी।

अतः — **ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।**
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।☒

उनके ऊपर निर्भर रहने से उनकी सहायता मिलती है। वे सब कुछ ठीक कर देते हैं। परंतु यह भी क्या सहज बात है? इसे हर कोई नहीं कर सकता। यह भगवान की कृपा या किसी साधु-महात्मा का संग प्राप्त होने पर ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। केवल बकबक करने से क्या होगा? अपने मन के भीतर झाँककर देखना होगा कि वहाँ क्या भाव है। और उसी भाव को निरन्तर शुद्धकर भगवान को अर्पित करते रहना होगा। यह क्या आसान बात है? आजीवन परिश्रम करने पर भी यदि किसी में ऐसे भाव का उदय हो तो वह धन्य हो जाता है। साराश यह कि यह कोई हँसी-खेल नहीं है। द्वैत अथवा अद्वैत, कोई भी भाव ठीक-ठीक आत्मसात् करना अत्यन्त कठिन है। द्वैत एवं अद्वैत के बीच भेद है या नहीं, इस विषय में भगवान शकराचार्य कहते हैं —

तवास्मीति भजन्त्येके त्वमेवास्मीति चापरे।
इति कश्चिद्विशेषोऽपि परिणामः समोद्वयोः।।*

अर्थात् द्वैतवादी कहते हैं कि मैं तुम्हारा हूँ और

† देहाभिमानी व्यक्ति बडा कष्ट उठाने के बाद अव्यक्त अर्थात् निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा की उपलब्धि करता है। (गीता, १२/५)

☒ परन्तु हे पार्थ, जो लोग सभी को मुझमें अर्पित करके अनन्य योग से मेरा ध्यान एवं उपासना करते हैं, मुझमें निविष्ट चित्तवाले ऐसे लोगों को मैं शीघ्र ही मृत्युमय ससार-सागर से पार लगा देता हूँ। (गीता, १२/६-७)

अद्वैतवादी कहते हैं कि मैं तुम हूँ— इसमें थोड़ा सा भेद होने पर भी दोनों का परिणाम एक ही है— दोनों में ही अज्ञान तथा दुःख का नाश होता है। इसमें कोई भेद नहीं। अतः जिसे जो भाव अच्छा लगे, वह उसी का आश्रय ले।

पर हाँ भाव शुद्ध होना चाहिए। 'हरि भी कहूँगा और कपड़ा भी संभालूँगा— ऐसा नहीं चलेगा। यदि मेरा अद्वैत भाव है तो मुझे शरीर, मन, बुद्धि आदि सब कुछ अस्वीकार करना होगा। ज्योंही कहूँगा 'मैं आत्मा हूँ', त्योंही सुख-दुःख का बोध चला जाना चाहिए; त्यों ही मुझे पूर्णरूपेण 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्'☒ की अनुभूति होनी चाहिए। यदि मैं कहूँ कि मैं उनकी सन्तान हूँ या उनका दास हूँ, तो वे चाहे जो करें, जैसा भी रखें, मेरे लिए वही सर्व प्रकार से कल्याणकारी है— ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर एकमात्र उन्हीं पर निर्भर होकर पड़े रहना होगा। दोनों ही बातें बड़ी कठिन हैं। दोनों की साधना करनी होगी, परन्तु दोनों का फल निःसंदेह एक ही है और वह है संसार से निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति। जिसे जो अनुकूल प्रतीत हो, वह उसी का आश्रय ले, परन्तु इसे करना होगा सर्वान्तःकरण से, पूरे मन-प्राण से। अन्यथा कुछ भी न होगा।

चित्तवाले ऐसे लोगों को मैं शीघ्र ही मृत्युमय संसार-सागर से पार लगा देता हूँ। (गीता, १२/६-७)

* बोधसार (भक्तियोग, ६)

† श्रीरामकृष्ण की एक बोधकथा के सन्दर्भ में यह बात कही गयी है।

☒जो अंशरहित, क्रियाहीन, शान्त, अनिन्द्य तथा निर्मल है। (श्वेताम्बर उपनिषद ६/१९)

भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान ने उद्धव को योग के बारे में उपदेश देते समय, कौन किस योग का अधिकारी है इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। तुम्हारी जानकारी के लिए मैं उसे उद्धृत करता हूँ—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।।
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।*

अर्थात् मनुष्यों के कल्याणार्थ मैंने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति – इन तीन प्रकार के योगों के उपदेश दिये हैं। ज्ञानयोग का उपदेश उन्हें दिया जाता है, जिनका मन विषयों से पूर्णतः निवृत्त हो गया है, परन्तु जिनका चित्त विषयों में लिप्त है, उन्हें कर्मयोग की आवश्यकता है और विषयों से पूर्णतः निवृत्त न होने पर भी जिनकी भगवत्कथा में श्रद्धा है तथा विषयों से तीव्र आसक्ति नहीं है, उनके लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद है।

इस बात पर अपने मन में भलीभाँति विचार करने पर यह सहज ही समझ सकोगे कि कौन किस योग का अधिकारी है।विषयों से पूर्णतः निवृत्त होने वालों की संख्या अधिक नहीं होती।अतएव ज्ञानयोग के अधिकारी भी अति विरल हैं।जो लोग अत्यन्त विषयपरायण हैं, वे कर्म किये बिना रह ही नहीं सकते।अतः जो लोग मध्यपन्थी हैं अर्थात्

*श्रीमद्भागवतम् ११/२०/६-८

बिल्कुल विरक्त भी नहीं है और विषयों में ज्यादा आसक्त भी नहीं है, फिर साथ ही भगवान का प्रति श्रद्धा-भक्ति भी है-ऐसे लोग यदि भक्तियोग की साधना करें तो शीघ्र ज्ञानलाभ होने की सम्भावना है।यह भक्तियोग ही सर्वाधिक सहजसाध्य तथा शीघ्र फलदायी है।इसकी साधना द्वैतवाद से प्रारम्भ होती है और बाद में प्रभु की कृपा से इसके परिपक्व होने पर अपने आप ही अद्वैतबोध का उदय होता है।आज यह प्रसंग यहीं समाप्त करता हूँ।

मानव का दिव्य स्वरूप

'अमृत के पुत्रो'—कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह! बन्धुओ, इसी मधुर नाम से मैं आपको सम्बोधित करूँ, इसकी अनुमति आप मुझे दें। निश्चय ही हिन्दू आपको पापी कहना स्वीकार नहीं करता। आप तो ईश्वर की सन्तान हैं, अमर आनन्द के भागी हैं, पवित्र और पूर्ण आत्मा हैं। आप इस मर्त्यलोक के देवता हैं। आप भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, मानव-स्वरूप पर घोर लांछन है। आप उठिए! हे सिंहगण! आइए और इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दीजिए कि आप भेड़ हैं। आप हैं अमर, मुक्त, आनन्दमय और नित्य आत्मा! आप जड़ नहीं हैं, शरीर नहीं हैं; जड़ तो आपका दास है, आप जड़ के दास नहीं।

—स्वामी विवेकानन्द

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

१. प्रकाशक का स्थान — रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिकता —त्रैमासिक

३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक —स्वामी सत्यरूपानन्द

राष्ट्रीयता —भारतीय

पता —रामकृष्ण मिशन, रायपुर।

स्वत्वाधिकारी —रामकृष्ण मिशन, बेलुड मठ।

स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मास्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी हिरण्यमयानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी शिवमयानन्द।

मैं, स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द